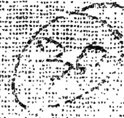
धर्म और राजनीति



डॉ० युगेश्वर

विषयक्रम



● ब्रजकुमार पाण्डेय	:	धर्म और राजनीति का सम्बन्ध एक यथार्थवादी दृष्टि	१
● तलत कमाल	:	राजनीति और मूल्य	१४
● मुहम्मद रफ़ीक़ खाँ	:	निष्ठाओं में तालमेल और साम्प्रदायिकता	१६
● यशपाल शास्त्री	:	धर्ममूलक राजनीति	१९
● अनिल कुमार राय	:	धर्म और राजनीति	२२
● युगेश्वर	:	धर्म और राजनीति	२५
● परमेश्वरीदयाल	:	धर्म राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ में	३१
● प्रमोद कुमार गुप्त	:	धर्म और राजनीति : बुनियादी प्रश्न	३४
● संगमलाल पाण्डेय	:	धर्म और राजनीति	३८
● कृष्ण नाथ	:	धर्म और राजनीति	५०
● जगदीश गुप्त	:	धर्म और राजनीति	५८
● विश्वनाथ प्रसाद तिवारी	:	धर्म और राजनीति	६०
● परिचर्चा			६२
● जगजीवन राम	:	रामकथा	६६



परिचय

प्रो० व्रजकुमार पांडेय—हाजीपुर में राज्यशास्त्र के प्रवक्ता। श्री तलतकमाल—गांधी विद्या संस्थान, वाराणसी में शोध कर्त्ता। श्री यशपाल शास्त्री—लुधियाना में अध्यापक। मुहम्मद रफ़ीक—गांधी विद्या संस्थान, वाराणसी में शोध कर्त्ता। श्री अनिल कुमार राय—बक्सर में हिन्दी के प्रवक्ता। डॉ० युगेश्वर—काशी विद्यापीठ में हिंदी के प्रवक्ता। प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय—अध्यक्ष, पाली विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी। श्री रामप्रवेश शास्त्री—गांधी शांतिप्रतिष्ठान, लखनऊ। प्रो० संगमलाल पांडेय—प्रवक्ता, दर्शनविभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। डॉ० परमेश्वरी दयाल—रीडर-अध्यक्ष, समाजसेवा, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद। श्री प्रमोद कुमार गुप्त—काशी के प्रसिद्ध लेखक, कवि और चित्रकार। डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी—प्रवक्ता, राज्यशास्त्र विभाग, काशी विश्वविद्यालय। प्रो० कृष्णनाथ—प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग, काशी विद्यापीठ। प्रो० रमाशंकर त्रिपाठी—पालि विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र—हिन्दी के प्रसिद्ध समस्या नाटककार। श्री राजनारायण—प्रसिद्ध समाजवादी नेता। श्री ठाकुर प्रसाद सिंह—प्रसिद्ध लेखक और सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार में सहसूचना निदेशक। श्री जितेंद्र सिंह—प्रसिद्ध पत्रकार, टाइम्स ऑव इंडिया के पटना स्थित प्रतिनिधि। डॉ० वेद प्रताप वैदिक—प्रसिद्ध हिन्दी आन्दोलनकारी और दिल्ली में राज्यशास्त्र के प्रवक्ता। श्रीगुरुकृपाल सिन्हा—मुंगेर के पत्रकार। डॉ० गौरीशंकर दुबे—गांधी विद्या संस्थान, वाराणसी। प्रो० नीरजा उबेराय—प्रवक्ता, अर्थशास्त्र काशी विद्यापीठ। डॉ० इन्द्रनारायण तिवारी—अध्यक्ष, राजशास्त्र, गांधी विद्या संस्थान वाराणसी। प्रो० विजयदेवनरायण साही—रीडर, अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। डॉ० जगदीश गुप्त—रीडर, हिन्दी विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय। डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी—हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय। श्री जगजीवन राम—रक्षामंत्री, भारत सरकार। प्रो० राजाराम शास्त्री—संसद् सदस्य।



धर्म और राजनीति का संबंध —एक यथार्थवादी दृष्टि

ब्रजकुमार पाण्डेय

धर्म और राजनीति के संबंधों की चर्चा जब हम करते हैं तो मूलरूप से हमारे समक्ष तीन प्रश्न उठ खड़े होते हैं। पहला यह कि धर्म का राजनीति के साथ संबंध के सन्दर्भ में हम 'धर्म' का कौन सा अर्थ करते है? दूसरा, शासक अथवा राज्य को जनता के धर्म-संबंधी कामों में हस्तक्षेप सरने का अधिकार रहे या नहीं। तीसरा राज्य की धर्म संबंधी नीति क्या हो? जहां तक 'धर्म' शब्द की व्याख्या या अर्थ करने का प्रश्न है—यह अत्यन्त ही कठिन काम है। भारतीय विचारक 'धर्म' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में लेते है कि प्रायः जीवन की बहुत-सी बातें धर्म में आ जाती हैं। यहाँ धर्म-सिद्धान्त, दर्शन, धार्मिक आचार-व्यवहार, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह, खान-पान आदि बहुत-सी बातें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में धर्म में समाहित रहती हैं। इस सन्दर्भ में भारतीय समाज में धर्म-शब्द को निम्नलिखित अर्थों में लेना ठीक मालूम पड़ता है :—

(१) धर्म-सिद्धान्त

(२) हमारी धार्मिक क्रियाएँ और आचार, तथा

(३) सामाजिक सवाल यथा-विवाह, दायभाग और स्त्री-पुरुष संबंध आदि।

यदि धर्म-शब्द का अर्थ हम इन तीन बातों के परिप्रेक्ष में करते हैं तो यहीं पर यह समस्या खड़ी हो जाती है कि इन तीन बातों के बारे में राज्य की नीति क्या होनी चाहिए? इसी जगह धर्म नियंत्रित और धर्म निरपेक्ष राज्यों का स्वरूप भी हमारे सामने दिखाई पड़ने लगता है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म अधिकांश मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार का अभिप्राय यह है कि मनुष्य को किसी भी धर्म को मानने तथा उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता है। किसी भी व्यक्ति की इच्छा के विपरीत उस पर कोई धर्म लादा नहीं जा सकता है। लेकिन धर्म नियंत्रित राज्य ऐसा है जहाँ किसी विशेष धर्म को राज्य की ओर से प्राथमिकता दी जाती है। ऐसे राज्य के प्रधान या अध्यक्ष को उस विशेष धर्म में विश्वास करने वाला होना जरूरी होता है। वही धर्म उस राज्य का धर्म माना जाता है। ऐसे राज्य में धार्मिक स्वतंत्रा का कोई अस्तित्व और महत्त्व नहीं होता। उदाहरणार्थ पाकिस्तान एक इस्लामी गणतंत्र है। इस्लाम धर्म में विश्वास करनेवाला व्यक्ति ही पाकिस्तान का शासक हो सकता है।

आधुनिक राज्यों में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को अत्यधिक मान्यता प्राप्त हो रही है। इसके अन्तर्गत धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को मान्यता मिलती है। रूसो ने कहा था कि—"जब तक व्यक्ति का सिद्धान्त उनके नागरिकता संबंधी कर्त्तव्यों के प्रतिकूल न हों, व्यक्ति को उन सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए जो औरों के प्रति सहिष्णु हों।" गेरेल के कथनानुसार "राज्य विश्वासों को नियंत्रित नहीं कर सकता है, परन्तु उन विश्वासों से जनित बाह्य कृत्य निःसन्देह इसके नियंत्रण में हैं।" अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि ऐसे राज्यों में नागरिकों को धर्म स्वातंत्र्य का अधिकार प्राप्त हो, परन्तु यदि उस धर्म स्वातंत्र्य से शान्ति, सुव्यवस्था, नैतिकता, सामूहिक हित का विरोध होता हो अथवा धर्म स्वातंत्र्य से घृणा, द्वेष, वैमनस्यता, हिंसा, अशान्ति, अनैतिकता आदि के उत्पन्न होने की संभावना हो, तो राज्य उसे मर्यादित कर सकता है।

मानव जाति के राजनैतिक इतिहास को ऐसे युगों से होकर गुजरना पड़ा है जब धर्म का राज्य पर पर्याप्त प्रभाव था। ऐसे युगों में शासक स्वयं अधिकार पूर्ण ढंग से अपने राज्यों में उस धर्म विशेष का प्रचार करता था जिसका वह अनुयायी हुआ करता था। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि अनेक राज्यों के राजाओं ने अपने राज्य में नये धर्म चलाये थे। ऐसा इसलिए था कि उस समय के राज्य का स्वरूप ही धार्मिक था और राज्य की सत्ता ही ईश्वर से उद्भूत मानी जाती थी। धर्म की प्रधानता इतनी अधिक थी कि धर्म की परिधि के बाहर राजनीति का मूल्य ही न था। धर्म राजनैतिक जीवन पर इस प्रकार छा गया था कि सम्पूर्ण राजनैतिक कार्य-कलाप का नियंत्रण धार्मिक विधि द्वारा ही होता था।

किन्तु राज्य और धर्म के इस गठबन्धन तथा राजनीति और धार्मिकता के इस सम्मिश्रण का परिणाम यह हुआ कि धर्म प्रधान राज्यों ने धर्म के नाम पर धर्मान्ध जनता का अनुचित शोषण किया। राज्य का रूप ईश्वरीय होने के कारण, राज्याज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा कह कर पुकारा गया और भोली-भाली जनता में औचित्य-अनौचित्य का विचार बिना किये हुए उसका पालन कराया गया। इस प्रकार व्यक्ति का उचित-महत्व भी समाप्त कर दिया गया और उसे धर्म पर आधारित राज्य का साधन मात्र बना दिया गया।

फलस्वरूप इस अनौचित्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। राज्य और धर्म-संस्था में संघर्ष चला तब अन्त में राज्य ने धर्म की प्रधानता को अस्वीकार ही नहीं कर दिया, अपितु अनेक राज्यों द्वारा चर्चों को अवैध तक घोषित कर दिया गया। धीरे-धीरे धर्म पर आधारित राजनीति की मान्यता कम होती गयी और सर्वत्र यह विश्वास किया जाने लगा कि राज्य और धर्म का संबंध तभी राजनीतिक और धार्मिकता का गठबन्धन व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर है। इसी अवधारण के जन्म के परिणाम स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का उदय हुआ।

धर्म के तीन अर्थों का जहां तक संबंध है वहां हम राज्य के हस्तक्षेप के स्वरूप पर विचार करें। सर्व प्रथम 'धर्म सिद्धान्त' को लिया जा सकता है। इसके बारे में राज्य की नीति स्पष्ट होनी चाहिए। चूँकि धर्म व्यक्ति विश्वास पर आधारित है। अतः धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन करना या न करना प्रजा का अपना काम है। नागरिक का संबंध

किसी धर्म से हो, राज्य को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, उसे किसी कानून के बल पर जनता का धर्म नहीं पलटना चाहिए।

धर्म का दूसरा अर्थ धार्मिक क्रियाओं और आचार-विचार से लिया जाता है। यह अर्थ किसी अंश में पहले अर्थ से भिन्न है। हमारी धार्मिक क्रियाओं का प्रभाव दूसरे आदमियों के धार्मिक विश्वासों तथा प्रजा की शान्ति पर पड़ सकता हैं। इस मामले में राज्य की नीति बहुधा यह है कि हर एक धर्म के अनुयायी अपनी धार्मिक क्रियाओं को स्वतंत्रता पूर्वक कर सकें, किन्तु दूसरे धर्माबलम्बियों के धार्मिक भावों को ठेस न लगे तथा नागरिकों की शान्ति भंग न हो। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को एक दृष्टि से देखे और हर एक के लिए ऐसा प्रबन्ध करे कि वे अपनी धार्मिक क्रियाओं को निर्भय होकर कर सकें। इस मामले में जनता को अत्यन्त उदार और सहनशील होना चाहिए। ऐसी स्थिति में भारतवासियों को हिन्दुओं के शंख की ध्वनि, मुसलमानों की बकरीद, जैनों के नग्न साधुओं तथा नग्न प्रतिमाओं, सिक्खों के झटके आदि सभी बातों को खुले हृदय से सहन करना होता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपनी धार्मिक क्रिया को राज्य के नियमों के अधीन बे-रोक-टोक करने का अधिकार प्राप्त होता है और राज्य उसमें कभी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। हम अछूतोद्धार के सवा लो लें। भारतीय संविधान के लागू होने के पूर्व हिन्दू मंदिरो में हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था। इस सन्दर्भ में श्रीयुत रंगा ऐयर को असेम्बली में मन्दिर-प्रवेश विधेयक पेश करना पड़ा था। इस विधेयक के पेश होने के बाद कुछ लोगों ने इसे धर्म में राज्य का हस्तक्षेप करना कहा था। किन्तु वे लोग भूल गये थे कि धर्म में राज्य ने पहले जो हस्तक्षेप किया था, यह उसे दूर करने का प्रयत्न था। आज जब हरिजनों को मंदिर प्रवेश का कानूनी हक प्राप्त है, फिर भी उनके साथ भेद-भाव की स्थिति विद्यमान हैं। इसके लिए कानून ही अपने आप में पर्याप्त नहीं हैं। इसके लिए जनमत का निर्माण और जन-चेतना को विकसित करने की जरूरत पड़ती है।

अब हम धर्म के तीसरे अर्थ समाज-संबंधी प्रश्नों—विवाह, दाय-भाग, रीति-रिवाज आदि को लें। पश्चिमी देशों में इस प्रकार के प्रश्न सामाजिक प्रश्नों की श्रेणी में रखकर धर्म से अलग कर दिये गये हैं। और इसीलिए वहाँ आवश्यकतानुसार राज्य की सहायता से या अपनी इच्छा से इनमें परिवर्तन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु ये प्रश्न भारत जैसे देश में आज भी लौकिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

"द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परस्यादागमाश्रयः॥"

ऐसे धार्मिक प्रश्नों को हमें धर्म सिद्धान्तों की भाँति अपरिवर्तनीय नहीं समझना चाहिए। इनमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह को आज हम भूल गये हैं। स्वयंवर के माध्यम से आज कहां शादी होती है। शास्त्रों में वर्णित सात प्रकार की शादियां आज कहां देखने को मिलती हैं। इस संबंध की जो सामाजिक क्रियाएँ आज प्रचलित हैं उन्हें भी हमलोगों ने धर्म की संज्ञा दे दी है। संभव है कि किसी समय आज की प्रचलित क्रियाएँ समाज के लिए आवश्यक प्रतीत हुई हों और उन्होंने धर्म का रूप धारण कर लिया

आधुनिक राज्यों में धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को अत्यधिक मान्यता प्राप्त हो रही है। इसके अन्तर्गत धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को मान्यता मिलती है। रूसो ने कहा था कि—"जब तक व्यक्ति का सिद्धान्त उनके नागरिकता संबंधी कर्त्तव्यों के प्रतिकूल न हों, व्यक्ति को उन सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु होना चाहिए जो औरों के प्रति सहिष्णु हों।" गेरेल के कथनानुसार "राज्य विश्वासों को नियंत्रित नहीं कर सकता है, परन्तु उन विश्वासों से जनित बाह्य कृत्य निःसन्देह इसके नियंत्रण में हैं।" अतः धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है कि ऐसे राज्यों में नागरिकों को धर्म स्वातंत्र्य का अधिकार प्राप्त हो, परन्तु यदि उस धर्म स्वातंत्र्य से शान्ति, सुव्यवस्था, नैतिकता, सामूहिक हित का विरोध होता हो अथवा धर्म स्वातंत्र्य से घृणा, द्वेष, वैमनस्यता, हिंसा, अशान्ति, अनैतिकता आदि के उत्पन्न होने की संभावना हो, तो राज्य उसे मर्यादित कर सकता है।

मानव जाति के राजनैतिक इतिहास को ऐसे युगों से होकर गुजरना पड़ा है जब धर्म का राज्य पर पर्याप्त प्रभाव था। ऐसे युगों में शासक स्वयं अधिकार पूर्ण ढंग से अपने राज्यों में उस धर्म विशेष का प्रचार करता था जिसका वह अनुयायी हुआ करता था। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि अनेक राज्यों के राजाओं ने अपने राज्य में नये धर्म चलाये थे। ऐसा इसलिए था कि उस समय के राज्य का स्वरूप ही धार्मिक था और राज्य की सत्ता ही ईश्वर से उद्भूत मानी जाती थी। धर्म की प्रधानता इतनी अधिक थी कि धर्म की परिधि के बाहर राजनीति का मूल्य ही न था। धर्म राजनैतिक जीवन पर इस प्रकार छा गया था कि सम्पूर्ण राजनैतिक कार्य-कलाप का नियंत्रण धार्मिक विधि द्वारा ही होता था।

किन्तु राज्य और धर्म के इस गठबन्धन तथा राजनीति और धार्मिकता के इस सम्मिश्रण का परिणाम यह हुआ कि धर्म प्रधान राज्यों ने धर्म के नाम पर धर्मान्ध जनता का अनुचित शोषण किया। राज्य का रूप ईश्वरीय होने के कारण, राज्याज्ञा को ईश्वरीय आज्ञा कह कर पुकारा गया और भोली-भाली जनता में औचित्य-अनौचित्य का विचार बिना किये हुए उसका पालन कराया गया। इस प्रकार व्यक्ति का उचित महत्व भी समाप्त कर दिया गया और उसे धर्म पर आधारित राज्य का साधन मात्र बना दिया गया।

फलस्वरूप इस अनौचित्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। राज्य और धर्म-संस्था में संघर्ष चला तब अन्त में राज्य ने धर्म की प्रधानता को अस्वीकार ही नहीं कर दिया, अपितु अनेक राज्यों द्वारा चर्चों को अवैध तक घोषित कर दिया गया। धीरे-धीरे धर्म पर आधारित राजनीति की मान्यता कम होती गयी और सर्वत्र यह विश्वास किया जाने लगा कि राज्य और धर्म का संबंध तभी राजनीतिक और धार्मिकता का गठबन्धन व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहितकर है। इसी अवधारणा के जन्म के परिणाम स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का उदय हुआ।

धर्म के तीन अर्थों का जहां तक संबंध है वहां हम राज्य के हस्तक्षेप के स्वरूप पर विचार करें। सर्व प्रथम 'धर्म सिद्धान्त' को लिया जा सकता है। इसके बारे में राज्य की नीति स्पष्ट होनी चाहिए। चूंकि धर्म व्यक्ति विश्वास पर आधारित है। अतः धर्म के सिद्धान्तों में परिवर्तन करना या न करना प्रजा का अपना काम है। नागरिक का संबंध

किसी धर्म से हो, राज्य को उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, उसे किसी कानून के बल पर जनता का धर्म नहीं पलटना चाहिए।

धर्म का दूसरा अर्थ धार्मिक क्रियाओं और आचार-विचार से लिया जाता है। यह अर्थ किसी अंश में पहले अर्थ से भिन्न है। हमारी धार्मिक क्रियाओं का प्रभाव दूसरे आदमियों के धार्मिक विश्वासों तथा प्रजा की शान्ति पर पड़ सकता हैं। इस मामले में राज्य की नीति बहुधा यह है कि हर एक धर्म के अनुयायी अपनी धार्मिक क्रियाओं को स्वतंत्रता पूर्वक कर सकें, किन्तु दूसरे धर्माबलम्बियों के धार्मिक भावों को ठेस न लगे तथा नागरिकों की शान्ति भंग न हो। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को एक दृष्टि से देखें और हर एक के लिए ऐसा प्रबन्ध करे कि वे अपनी धार्मिक क्रियाओं को निर्भय होकर कर सकें। इस मामले में जनता को अत्यन्त उदार और सहनशील होना चाहिए। ऐसी स्थिति में भारतवासियों को हिन्दुओं के शंख की ध्वनि, मुसलमानों की बकरीद, जैनों के नग्न साधुओं तथा नग्न प्रतिमाओं, सिक्खों के झटके आदि सभी बातों को खुले हृदय से सहन करना होता है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपनी धार्मिक क्रिया को राज्य के नियमों के अधीन बे-रोक-टोक करने का अधिकार प्राप्त होता है और राज्य उसमें कभी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है। हम अछूतोद्धार के सवाल को लें। भारतीय संविधान के लागू होने के पूर्व हिन्दू मंदिरो में हरिजनों का प्रवेश निषिद्ध था। इस सन्दर्भ में श्रीयुत रंगा ऐयर को असेम्बली में मन्दिर-प्रवेश विधेयक पेश करना पड़ा था। इस विधेयक के पेश होने के बाद कुछ लोगों ने इसे धर्म में राज्य का हस्तक्षेप करना कहा था। किन्तु वे लोग भूल गये थे कि धर्म में राज्य ने पहले जो हस्तक्षेप किया था, यह उसे दूर करने का प्रयत्न था। आज जब हरिजनों को मंदिर प्रवेश का कानूनी हक प्राप्त है, फिर भी उनके साथ भेद-भाव की स्थिति विद्यमान हैं। इसके लिए कानून ही अपने आप में पर्याप्त नहीं है। इसके लिए जनमत का निर्माण और जन-चेतना को विकसित करने की जरूरत पड़ती है।

अब हम धर्म के तीसरे अर्थ समाज-संबंधी प्रश्नों—विवाह, दाय-भाग, रीति-रिवाज आदि को लें। पश्चिमी देशों में इस प्रकार के प्रश्न सामाजिक प्रश्नों की श्रेणी में रखकर धर्म से अलग कर दिये गये हैं। और इसीलिए वहाँ आवश्यकतानुसार राज्य की सहायता से या अपनी इच्छा से इनमें परिवर्तन करने में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु ये प्रश्न भारत जैसे देश में आज भी लौकिक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

"द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परस्यादागमाश्रयः॥"

ऐसे धार्मिक प्रश्नों को हमें धर्म सिद्धान्तों की भाँति अपरिवर्तनीय नहीं समझना चाहिए। इनमें समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह को आज हम भूल गये हैं। स्वयंवर के माध्यम से आज कहां शादी होती है। शास्त्रों में वर्णित सात प्रकार की शादियां आज कहां देखने को मिलती हैं। इस संबंध की जो सामाजिक क्रियाएँ आज प्रचलित हैं उन्हें भी हमलोगों ने धर्म की संज्ञा दे दी है। संभव है कि किसी समय आज की प्रचलित क्रियाएँ समाज के लिए आवश्यक प्रतीत हुई हों और उन्होंने धर्म का रूप धारण कर लिया

हो। किन्तु आज के प्रचलित रीति-रिवाज समाज की बदली हुई स्थिति के अनुकूल नहीं हैं तो उसमें परिवर्तन करने में क्या हानि है ?

प्राचीन काल में इस प्रकार के प्रश्न स्मृतिकारों तथा नीतिकारों के ग्रन्थों के अनुसार निर्मित होते थे, राजा किसी बड़े धर्मशास्त्री की सम्मति से उसमें परिवर्तन करता था या जातीय पंचायतें अपनी परिस्थिति के अनुसार अपनी रीति-रिवाजों में परिवर्तन करती थीं। किन्तु आज न तो वे राजे ही हैं, न वे समर्थ धर्मशास्त्री ही हैं और न वे शक्तिसम्पन्न तथा विवेकशील पंचायतें ही हैं। हमारे धर्म सिद्धान्तों को बने भी शताब्दियां गुजर गईं। हमारा समाज भी कई जातियों, धर्मों और विचारों के संसर्ग में आया तथा उनके विचारों के प्रभाव से वंचित न रह सका। ऐसी स्थिति में यह जरूरी है कि समाजशास्त्र के नये सिद्धान्तों की रचना की जाय और भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के सामाजिक नियमों में जो त्रुटियाँ हैं वे दूर की जांय।

एक समय था जब धर्म ही समाज को नियंत्रित करता था, उसके बाद एक ऐसा युग आया जब राजनीति ने समाज को नियंत्रित करना शुरू किया जब राज्य से धर्म का अलगाव हुआ और आज एक ऐसा युग आया है जहां विज्ञान समाज की धारा का निर्णायक स्रोत बना है जिसका राज्य और धर्म दोनों पर नियंत्रण होने लगा है। इस वैज्ञानिक प्रभाव के परिप्रेक्ष्य में धार्मिक कुरीतियों का उन्मूलन जरूरी ही गया है। यही कारण है कि राज्य धर्म के नाम पर फैली बुराइयों को सामाजिक विधानों के निर्माण के माध्यम से दूर करने का आज प्रयास कर रहा है। सामाजिक विधानों को कानूनी रूप राज्य ही दे सकता है। यदि राज्य के इस तरह के कानून निर्माण के कार्य को कोई धर्म में राज्य का हस्तक्षेप मानता है तो निश्चित रूप से वह 'धर्म' के सही अर्थ से समाज को वंचित रखना चाहता है।

निष्कर्षत:, इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक प्रश्नों को सुलझाने के लिए तथा नये सामाजिक नियमों के निर्माण के लिए राज्य का हस्तक्षेप करना बुरा नहीं है। इसमें यह कतई प्रश्न नहीं उठता है कि राज्य और प्रजा का धर्म एक हो तभी यह काम होना चाहिए अथवा नहीं। इतिहास ऐसे उदाहरणों ने भरा पड़ा है जिनमें अन्य धर्म के मानने वाले शासकों ने दूसरे धर्म को माननेवाली प्रजा के लिए सफलतापूर्वक सामाजिक नियमों में क्रान्ति की है और समान धर्म को माननेवाले शासक इस काम में असफल हुए हैं। अमीर अमानुल्ला खां अफगानिस्तान की स्वधर्मी प्रजा में समाज-सुधार न कर सके, वरन अपने सुधारों के लिए उन्हें देश छोड़ना पड़ा। किन्तु भारत में ईसाई-धर्म को माननेवाला अंग्रेजी राज्य के प्रयास में बहुत दूर तक सफल रहा।

[२]

एशिया और अफ्रीका के मुल्कों में धर्म की भूमिका राष्ट्रीयमुक्ति आन्दोलन में आदर्शवादी रही है। इसका स्वरूप निश्चित रूप से यूरोपीय देशों की औद्योगिक क्रान्ति के माध्यम से जन्मी जनतांत्रिक क्रान्ति से भिन्न रही है। यूरोप ने धर्म का निषेध कर जनतांत्रिक क्रान्ति को आगे बढ़ाने का काम किया। लेनिन में कहा था कि पूर्वी देशों का बुर्जुआ वर्ग "फ्रांस के महान प्रबुद्ध चिन्तकों और अठारहवीं सदी के समाप्तिकाल के महान नेताओं का सुयोग्य सहचर है।"

उनका आशय था कि पूर्व के देशों में बुर्जुआ विचारधारा के प्रगतिशील तत्वों का प्रवृत्तियों को उन ठोस आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में स्पष्ट करना जो उस विचारधारा को जन्म देती और प्रतिबिम्बित करती हैं।

पूर्व में धर्म के अत्यधिक प्रभाव को देखते हुए राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के सिद्धान्तकार अनीश्वरवादी और भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण के प्रतिपादक नहीं बन सके। इसके विपरीत इनकी सैद्धान्तिक प्रवृत्तियाँ आमतौर से स्थिति के अनुसार धार्मिक और आदर्शवादी स्वरूप ग्रहण करने लगीं।

इस प्रकार, यह लक्षित करते हुए कि १९०५-१९०७ की रूसी क्रान्ति के बाद पूर्व की जनतांत्रिक क्रान्ति सम्पूर्ण दक्षिण पूर्व एशिया में फैलने लगी, लेनिन ने लिखा....."जनवादी आन्दोलन जावा के अवाम में विकसित हो रहा है, जहाँ इस्लाम के झंडे के नीचे एक राष्ट्रवादी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है।"[1] जी० वेगेनर की पुस्तक—'आधुनिक भारत, भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और समस्याएं" पर अपनी टिप्पणियों में लेनिन ने भी "अंग्रेजों के खिलाफ, एशियाइयों के लिए, स्वयं अपने लक्ष्यों के लिए, हर एशियाई चीज के लिए.... धार्मिक आन्दोलन की ओर संकेत किया।"[2]

पश्चिमी यूरोप के मध्यवर्ग की 'धर्म के विरुद्ध बुर्जुआ युद्ध की एक परम्परा थी और यह युद्ध समाजवाद के बहुत पहले शुरू हुआ था।[3] इसके विपरीत पूर्व के देशों में धर्म के विरुद्ध जनतांत्रिक संघर्ष का प्रश्न आम कार्यक्रम का अंग कभी नहीं बना। इसके अतिरिक्त लेनिन ने कहा कि विकास के एक विशेष चरण में धर्म के आवरण में राजनीतिक प्रतिवाद सभी राष्ट्रों के लिए आम बात है। यदि पश्चिम इस दौर से बहुत पहले गुजर चुका था, तो पूर्व के देश अपने 'जागरण' और मुक्ति संघर्ष के काल में इस दौर में अभी प्रवेश ही कर रहे थे।

निस्संदेह, राष्ट्रीय जागरण के काल में मध्यवर्ग ने धार्मिक विचारधारा के परम्परागत सिद्धान्तों को सदा ही तत्परतापूर्वक नहीं स्वीकार किया। अनेक अवसरों पर उसने धार्मिक सुधार के नारे का भी इस्तेमाल किया और सामन्ती पूर्व में धार्मिक नैतिकताओं की सर्वाधिक घृणित रूढ़ियों और सिद्धान्तों को हटाने या बदलने के जनवादी विचारों को सामने रखा। लेकिन मध्यमवर्ग कभी धर्म के सर्वथा विरुद्ध नहीं रहा। इसके विपरीत उसने धर्म को भौतिकवादी पश्चिम के 'दूषित' कुप्रभाव का प्रतिकार करनेवाली प्रमुख राष्ट्रीय परम्परा की भूमिका सौंप दी।

पूँजीपति वर्ग द्वारा धर्म के इस उपयोग का कारण अन्य बातों के अलावा यह तथ्य भी है कि धार्मिकता सामाजिक मनोभाव का एक प्रमुख तत्व रही है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि पूँजीपति वर्ग के सिद्धान्तकार इसकी उपेक्षा नहीं कर सके और सर्वाधिक सामान्य

---

१. संग्रहित रचनायें, खण्ड १९, पृ० ८५, लेनिन।

२. संग्रहित रचनायें, खण्ड ३९, पृ० ४९९, लेनिन।

३. 'विश्वकोषकार, फायरबारव', ले० लेनिन, संग्रहित रचनायें, खण्ड १५, पृ० ४१०।

परम्परा के रूप में धर्म को अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए उपयोग किया। पूँजीवादी विचार-धारा की यह खूबी है कि वह सामाजिक मनोभावना के समनुरूप होती है। यही कारण है कि आम जनता में इतने व्यापक रूप में फैली है, जिससे वह एक जोरदार सामाजिक शक्ति बन गयी है।

धर्म ने साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन में अलग-अलग तत्वों को ऐक्यबद्ध करने में और आम जनता को उसमें शामिल करने में मदद की। यह औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध राष्ट्रीयतावादी प्रतिक्रिया का रूप था। जवाहर लाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा 'मेरी कहानी' में लिखा है[१]—"पूर्व के अन्य स्थानों की भाँति भारत का भी नया राष्ट्रवाद, अनिवार्यतः धार्मिक राष्ट्रवाद था।" पं० नेहरू के अनुसार स्वदेशी आन्दोलन का—जो इस शताब्दी के प्रारम्भ का राष्ट्रीय आन्दोलन था, इसका आधार भी 'धार्मिक राष्ट्रवाद' ही था। सर्वाधिक उग्रवादी आतंकवादी संगठनों की विचारधारा में भी धार्मिक पुट था। ये संगठन धर्म की सहायता से जनता पर जो प्रभाव डाल सकते थे उसे ब्रिटिश औपनिवेशिक अधिकारियों को भी स्वीकार करना पड़ा।

महात्मा गाँधी ने मुक्ति आन्दोलन के दौर में जिस सैद्धान्तिक प्रणाली को विकसित किया था उसमें धर्म ने तो सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्तों की पुष्टि में अग्रणी भूमिका अदा की थी। वह राजनीति से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था और यहाँ तक कि राजनीति पर वह पूरी तरह से हावी भी था। गांधीजी ने कहा था कि[२]—"मैं बिना किसी संशय के और फिर भी पूर्ण विनय के साथ यह कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राज-नीति से कोई मतलब नहीं है, वे जानते ही नहीं कि धर्म का अर्थ क्या है।" कुछ खास धार्मिक और नैतिक सिद्धान्त—प्रेम, अहिंसा और सत्य आदि को राजनीति के क्षेत्र में भी गाँधीजी ने प्रसारित कराया। उदाहरण के लिए गाँधीजी ने अहिंसा के सिद्धान्त को एक जोरदार राजनीतिक शक्ति कहा। उन्होंने कहा कि 'अहिंसा मेरे लिए धर्म है, मेरा जीवन-प्राण है। लेकिन मैंने इसे भारत के समक्ष धर्म के रूप में कभी नहीं रखा। मैंने इसे कांग्रेस के समक्ष एक राजनीतिक पद्धति के रूप में रखा जिसका उपयोग राजनीतिक समस्याओं के समाधान में हो सकता था। संभव है, यह एक नितान्त नई पद्धति हो लेकिन इसी कारण इसका राजनीतिक स्वरूप समाप्त नहीं हो जाता।"[३]

इसी प्रकार गाँधीजी सत्य को भी राजनीतिक संघर्ष का एक सिद्धान्त मानते थे और यह कहते थे कि 'स्वराज्य' सत्य का ही एक भाग है। यह आकस्मिक बात नहीं थी कि गांधीजी ने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की अपनी पद्धति की व्याख्या करते हुए 'सत्याग्रह' शब्द का प्रयोग किया।

गाँधीजी की तरह बर्मी राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने भी देश के रूपान्तरण और

---

१. 'मेरी कहानी', लेखक जवाहर लाल नेहरु, अंग्रेजी संस्करण, लंदन, पृ० ५४।

२. 'आत्मकथा' (सत्य के प्रयोग), अहमदाबाद, १९६६, पृ० ३८३।

३. 'महात्मा', ले० डी० जी० तेंदुलकर खण्ड ६, पृ० ४८, बम्बई, १९५१-५४।

सामान्यतः समाज के विकास में बौद्धधर्म की भूमिका को निर्णायक माना। उदाहरणार्थ उनू धर्म को 'विश्व की अन्तिम आशा' मानते हैं। इसी विचार को बर्मा के सोशलिस्ट नेता उ बा स्वे ने स्पष्ट करते हुए कहा[1] : "मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि धर्म न केवल व्यक्ति की नैतिक शक्ति को दृढ़ता प्रदान करता है, वरन यह किसी देश की प्रगति का भी मुख्य स्रोत है। धर्म रहित मनुष्य पतवार रहित नौका के समान है जो समुद्र के विशाल विस्तार में लक्ष्यहीन हो भटकती रहती है।"

महान् समाजवादी विचारक डा० लोहिया ने भी भारत के तीर्थों, नदियों की सफाई और रामायण मेला के माध्यम से भारत की अवरुद्ध क्रान्ति, रिनासाँ और रिफॉरमेशन को को सांस्कृतिक स्तर प्रदान करने का अभियान चलाया था।

पूर्व के देशों में राष्ट्रीयतावादी विचारधारा का धार्मिक रंग धर्मशास्त्रीय तर्कों, आत्मा की अपील और धार्मिक-नैतिक आत्मोन्नति के विचारों को मुक्ति आन्दोलन की एक निर्णायक शर्त के रूप में पेश करनेवाली शिक्षाओं में अभिव्यक्त हुआ है। इसकी यह विशेषता उसकी सामाजिक प्रकृति का परिणाम थी। इसने पूर्व के सामान्य 'जागरण' के सिलसिले में सामाजिक और राजनीतिक संबंधों के विघटन को भी प्रतिबिम्बित किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन में अभिव्यक्त धार्मिक विचार कोई वैयक्तिक चीज नहीं थी'; यह पूर्वी देशों के विचारकों और मुक्ति आन्दोलन के नेताओं की कोई सनक या झक नहीं थी वरन् यह एक ऐसी विचारधारा की स्वीकृति थी जिनको लाखों-लाख लोगों ने युगों से संजोया था और जिनके बीच वे शताब्दियों से रहते आ रहे थे। यह विचारधारा आम जनता को उस समय वशीभूत करती है जब वह प्राचीन 'जीवन- व्यवस्था' के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक खड़ी हो जाती है, लेकिन उसके रूपान्तरण के वास्तविक मार्गों को नहीं जानती और उस व्यवस्था की स्पष्ट परिकल्पना भी नहीं कर पाती जो वस्तुगत रूप से अस्तित्व में आती है।

'निराशावाद, अप्रतिरोध, आत्मा की अपील एक खास विचारधारा का निर्माण करती है। एक ऐसे युग में जब सम्पूर्ण पुरानी व्यवस्था 'अस्त-व्यस्त' हो गई हो' और इसी व्यवस्था में पली-बढ़ी आम जनता जिसमें माँ के दूध के साथ इसी व्यवस्था के सिद्धान्तों, आदतों परम्पराओं और विश्वासों को आत्मसात किया हो, जब यह न देखती हो या देख पाने में असमर्थ हो कि किस प्रकार की नयी व्यवस्था 'आकार ग्रहण कर रही हैं, उसे कौन-सी सामाजिक शक्तियाँ किस प्रकार 'निरूपित कर रही हैं', और उन असंख्य, असाधारणरूप से घोर कष्टों से उथल-पुथल के ऐसे युगों की विशिष्टता हैं, मुक्ति दिखाने में सुलभ सामाजिक शक्तियाँ कौन हैं, तब ऐसी विचारधारा अपरिहार्य होती हैं।

सामाजिक व्यवस्था को रूपान्तरित करने वाली ऐसी विचारधारा का एकमात्र कारण आम जनता में वैज्ञानिक विचारों एवं चेतना का अभाव तथा समाज में राजनीतिक अपरिपक्वता के अस्तित्व को माना जा सकता है। साथ ही इसका संबंध भूदास प्रथा के पितृसत्तात्मक अवशेषों में जकड़ी और धार्मिक उपशमनों के प्रभाव के अधीन कृषक जनता की वर्ग

---

१. न्यू टाइम्स आफ बर्मा, १८, १०, १९५६, पृ० ४।

चेतना के निम्न स्तर को भी माना जा सकता हैं। पूर्वी देशों में किसानों की बहुसंख्या एवं प्रधानता के फलस्वरूप भी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष की विचारधारा पर धार्मिक आदर्शवादी भवना का प्रभाव अधिक रहा हैं।

किन्तु एशियाई-अफ्रीकी सामाजिक आन्दोलन की राष्ट्रवादी विचारधारा के धार्मिक आदर्शवादी आवरण के पीछे जनतांत्रिक, साम्राज्यवाद विरोधी प्रवृत्तियाँ अधिक मुखर थीं। यही कारण था कि इन प्रवृत्तियों की ओर इंगित करते हुए लेनिन ने लिखा था कि 'एशिया में अभी भी ऐसा बुर्जुआ वर्ग है" जो १७८९ की फ्रांसीसी बुर्जुआ क्रान्ति के युग के महान प्रबुद्ध चिन्तकों का 'सुयोग्य सहचर' है। उन्होंने आगे कहा, "कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी आन्दोंलन के एक नये मोड़ पर सैद्धान्तिक असंगतियों में कुछ व्यावहारिक सत्य छिपे होते हैं।'[1] पूर्वी देशों की राष्ट्रीयतावादी विचारधाराओं में धार्मिक आदर्शवादी 'असंगतियों' में जो 'व्यावहारिक सत्य' छिपा हुआ था वह था उसकी जनतांत्रिक एवं साम्राज्य विरोधी प्रवृत्ति। इसी कारण इन विचारधाराओं ने मेहनतकश जनता की चेतना को बहुत अधिक प्रभावित किया।

आज की दुनियाँ में सामाजिक अन्तर्विरोधों में काफी वृद्धि और विभिन्न धर्मों में अनुभव किये जा रहे सैद्धान्तिक संकटों के कारण बहुत से देशों में पूजींवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में धर्म प्राण जनता और क्रान्तिकारी मजदूरवर्ग के व्यापक हिस्सों में मैत्री की परिस्थितियां उत्पन्न होती जा रही हैं। वैज्ञानिक भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण के प्रवक्ताओं और धार्मिक जनता के बीच युद्ध और शान्ति पूँजीवाद और समाजवाद, नव उपनिवेशवाद और विकासशील देशों की समस्याओं पर बातचीत और साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा जनतंत्र और समाजवाद के लिए संयुक्त कार्रवाइयों के सामयिक महत्त्व को भी समझने और इनके विरुद्ध लड़ने की तैयारी धर्म प्राण जनता क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के साथ मिलकर करने लगी है। इस प्रकार व्यापक संपर्क और संयुक्त कार्रवाइयों द्वारा—धर्म में आस्था रखने वाली जनता के व्यापक हिस्से साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में और दूरगामी सामाजिक परिवर्तनों को क्रियान्वित करने में एक सक्रिय शक्ति बन सकते हैं—ऐसी संभावना के आसार नजर आने लगे हैं। भारत में आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन द्वारा किए गये सामाजिक भेदभाव और साम्राज्यवाद विरोधी वैचारिक संग्राम की भूमिका को कौन नजरन्दाज कर सकता हैं।

[३]

धर्म की एक अवधारणा 'जनता के लिए अफीम' के रूप में अभिव्यक्त की जाती है। इस अवधारणा के प्रवर्तक कार्लमार्क्स और नास्तिक अराजकवादी माने जाते हैं। किन्तु कार्ल मार्क्स ने धर्म संबंधी इस धारणा (धर्म जनता के लिये अफीम हैं) को किस अर्थ में ग्रहण क्रिया था—उसे लोग भूल जाते हैं। उसने तो धर्म सम्बन्धी विचारों और संस्थाओं को मानव के क्रिया कलापों के चरित्र से पैदा होंने वाला और उसी को व्यक्त करने वाला माना था। इस अवधारणा की व्याख्या करते हुए ब्रितानी मार्क्सवादी विचारक आर्थिवाल्ड रॉबर्टसन ने

१. लेनिन संगृहीत रचनाएं, खण्ड २०, पृ० ४९२।

कहा था मार्क्स और एन्जिल के अनुसार व्यक्ति सोच सकें इसके पहले केवल उपासना की जाए, कि उन्हें जीना चाहिए—कि उन्हे भोजन, जल, आवास, वस्त्र और जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ मिले। उनके अनुसार, आदमी कार्य करता है और विश्व को बदल देता हैं, जिसका वह अंग है। विचार, उपकरणों में से एक हैं जिनसे वह ऐसा करता है। अतः इतिहास केवल विचारों का प्रगटीकरण नहीं है, बल्कि विश्व को बदलने के लिए किये गये संघर्षों की श्रृंखला हैं—विशेष रूप से मानवीय श्रम के उत्पादन से लिए सामाजिक वर्गों में होने वाले संघर्ष"........भौतिक उत्पादन के भौतिक व्यवहार के विकास के दरम्यान, अपमे विचार और अस्तित्व सहित बदलता जाता है। जीवन का विर्धारण चेतना के द्वारा नहीं होता है।

(मार्क्स और एन्जिल)

इस प्रकार, दुनिया में कोई भी शाश्वत और अपरिवर्तनीय नैतिक नियम या धार्मिक सत्य नहीं हैं। नैतिकता और धर्म तो इसी टोस समाज की रचनाएँ हैं।

मार्क्स के विचार में धार्मिक भावनाएँ जैसे आश्चर्य, विस्मय, निराश्रय और दुःख आदि अनुभूति से प्रकट होते हैं। जो सर्वप्रथम मनुष्य की प्रकृति की शक्तियों के डर और उसको नियंत्रित करने की कठिनाई से उत्पन्न होते हैं जो उसके 'बाहर' और हमेशा उसके 'ऊपर' प्रतोत होते हैं, और बाद में, वर्गों और वर्गजुल्म पर आधारित समाज और मनुष्य की उस समाज की समझ या नियंत्रण की अक्षमता के उदय के साथ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह उससे 'बाहरी' और उसके 'ऊपर' की चीज है।

मार्क्स ने कहा था कि धर्म दमनात्मक सामाजिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति और उसके विरुद्ध विद्रोह करनेवाला दोनों ही है। इस सन्दर्भ में जनता का अफीम संबंधी मार्क्स की सूक्ति के अवतरण को उद्घृत किया जा सकता है।

धार्मिक अनुताप एक ही समय वास्तविक अनुताप की अभिव्यक्ति और वास्तविक अनुताप का प्रतिकार भी है। धर्म दुःखी जीव की आह है, हृदयहीन विभव का हृदय हैं आत्मविहीन स्थिति की आत्मा की तरह यह व्यक्ति के लिए अफीम हैं। व्यक्ति के भ्रामक सुख के आधार धर्म का उन्मूलन उनके वास्तविक सुख के लिए आवश्यक हैं। अपनी दशा के प्रति भ्रम के त्याग का अर्थ उस दशा का त्याग होगा जिसे भ्रम की आवश्यकता है। अतः धर्म की आलोचवा Val of woe की आलोचना के भ्रूण में स्थित है धर्म जिसका प्रभामंडल है।"

(मार्क्स और एन्जिल)

इस अवतरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्क्स धर्म को न केवल भ्रम मानता है जो एक हृदयहीन विश्व में एक स्वापक के समान है, बल्कि इससे भी अधिक वह इसे ऐसे

---

१. पोलिटिकल अफेयर्स, अगस्त १५६८, पृ० २० पर उद्धृत 'सोशलिज्म एण्ड रिलिजन' नामक पुस्तक की पंक्तियाँ।

विश्व के विरूद्ध विद्रोह करनेवाला भी मानता है, जबतक कि ऐसे विश्वका अस्तित्व है। इसको वह एक जरूरत के रूप में स्वीकारता है।

यदि धर्म एक सामाजिक रचना है तो यह एक सामाजिक शक्ति भी हैं जो सामाजिक विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इस प्रकार इसके दो पहलू हैं और वह समाज में वर्ग संघर्ष के दोनों पहलूओं को प्रतिम्बित करता है। एक तरफ धर्म यदि आमजन-गण के द्वारा आत्मसमर्पण और यथास्थिति को स्वीकार करने के लिए शासक वर्ग के हाथों में एक हथियार के रूप में इस्तेमाल होता है और यथार्थरूप में सामाजिक विकास के क्रमिक अवस्थान में इसकी यदि भूमिका रही है तो दूसरी तरफ यह शोषित वर्गों के हाथों में शासकों के विरूद्ध विद्रोह के हथियार के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता हैं। धार्मिक परचमों के नीचे विश्व में शोषक और शोषित दोनों पक्षों की ओर से वर्ग युद्ध लड़ा जा सकता है और दुनिया में ऐसे युद्ध लड़े भी जाते रहे हैं।

दुनिया के इतिहासकारों ने कुछ ऐसी गलत अवधारणाओं का निर्माण किया है कि दुनिया में बहुतेरे युद्ध धर्म के नाम पर या धर्म की रक्षा के लिए लड़े गये थे। किन्तु क्या यूनानियों और रोमवासियों ने किसी धर्म को फैलाने के लिए युद्ध किया था। इसका जवाब मिलता है—नहीं। ये युद्ध तो स्पष्ट रूप में गुलामी के लिए लोगों को बंदी बनाने और अन्य समाजों की सम्पत्ति लूटने के लिए लड़े गये थे।

ईसाई धर्म जो कि गुलामी के विरूद्ध एक विचार धारा और धर्म के रूप में उदित हुआ था और जिसने ट्यूटोनी कबीलों के साथ मिलकर रोमन साम्राज्य और गुलामी को उखाड़ फेंकने में कुछ भूमिका अदा की थी, स्वयं साम्राज्य और ईसाई धर्म युद्धों का एक विजय-ध्वज बन गया। विश्व में वाणिज्य और व्यापार फैलाते हुए अमरीकी कबीलों का जो कत्लेआम किया गया और पुर्तगालियों और स्पेनवासियों द्वारा जो कैथोलिक खोजें भी गयीं, उनसे लाखों लोगों का जीवन संकट में पड़ गया। अपने मूल रूप के ठीक विपरीत ईसाई धर्म को शोषण-दमन के झंडे पर अंकित कर दिया गया। धर्म में राज्य के हस्तक्षेप का प्रश्न भी इसी काल में उठा।

ईसाइयों और यहूदियों के बीच द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप ईसाई जनता रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट नाम के दो सम्प्रदायों में बँट गई। यूरोप के प्रत्येक देश में इस सम्प्रदाय-भेद से राजा और प्रजा में साधारण झगड़ा ही न रहने लगा, वरन बड़े-बड़े खून-खराबे होने लगे।

धर्मभेद के कारण राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे और प्रजा राजा को पदच्युत करने का प्रयत्न करती थी। इंगलैंड के ट्यूडर-वंश के राज्य-काल में तो इस प्रकार के अत्याचार का ताँता बंध गया था।

जब ईसाई धर्म के समानान्तर अरब में इस्लाम धर्म का उदय हुआ तो शीघ्र ही

---

१. मार्क्स एण्ड गल्स रिलीजन पृ० ४२।

इसका विकास बड़ी तेजी से होने लगा। कारण था कि ईसाई धर्म की ज्यादती के विरूद्ध इस्लामधर्म में जनतंत्र और बराबरी के गुण थे। इसमें निजीभूमि सम्पत्ति पर रोक थी और गुलामी के प्रति मानवीय भावानाएँ संविहित थीं। इस्लाम की इन अच्छाइयों के परिणाम-स्वरूप इसका प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में तेजी से होने लगा। बड़े-बड़े सामंती साम्राज्य इसके प्रभाव के कारण विलीन होने लगे। किन्तु जैसे ही इस्लाम अपनी मूल आत्मा से हटकर खलीफों, सरदारों और सामन्तों का सेवक बना—धर्म के नाम पर इस्लाम धर्म में प्रशिक्षित शाषकों ने जनता का खून चूसना शुरू किया। वे लगातार युद्धों, विजय अभियानों, हत्याओं और उन सभी कार्यों में संलग्न रहने लगे, जो शोषक वर्गों के शासन के साथ जुड़े हुए होते हैं।

जब गुलामों पर अधिकार रखने वाले साम्राज्यों का कृषक-भूदासों पर स्वामित्व रखनेवाले सामंती राजतंत्रों की, जिनकी पूछों में ध्यापार और वाणिज्य पूँजी बंधी थी, ऐतिहासिक भूमिका समाप्त हो गयी, तथा पूँजीवाद ने उन्हें किनारे कर दिया और विश्व पर फिर से विजय प्राप्त करना शुरु किया, तब अपने प्रहार में सहायक होने के लिए उन्हें धर्म की कोई विशेष जरूरत नहीं रह गई। अमरीकी और फ्रांसीसी राज्य क्रांतियों को अपने नेतृत्व के लिए किसी धार्मिक मंच की आवश्यकता नहीं पड़ी, हालांकि कुछ पूँजीवादी क्रान्तियों में जैसे क्रामवेल कालीन इंगलैंड या धर्मसुधार के दौर में नीदरलैंड में, धार्मिक सुधार और पंथों के ध्वज का प्रयोग किया गया था।

इसमें शक नहीं कि अफ्रीका और एशिया जैसे कई महाद्वीपों में ईसाई मिशनरियों ने पुर्तगाली अथवा ब्रितानी लूट के लिए रास्ता साफ किया था। इस सन्दर्भ में रूडयार्ड किप-लिङ्ग ने तो 'टेक अप दी ह्वाइट मैन बरडेन' नामक कविता ही लिखी थी। किन्तु कुल मिला कर पूँजीवादी-साम्राज्यवादी युद्ध और आक्रमण प्रत्यक्ष रूप से व्यापार क्षेत्र और विनियोग आदि के रूप में किये गये युद्ध थे। भारत, चीन अरब देशों में जो युद्ध लड़े गये थे, वे ईसाई धर्म को फैलाने वाले युद्ध नहीं थे, बल्कि पूँजीवादी व्यापार, विनियोग और उपनिवेशों की स्थापना के लिए ब्रितानी साम्राज्यवाद ने इन युद्धों को लड़ा था।

जहां तक हिन्दूधर्म का सवाल है भारत में ऐसा कोई उद्धरण नहीं मिलता है। वाल्मीकि रामायण में लंका विजय के बाद लक्ष्मण को हल्का मोह लंका में रहने के लिए हो गया था किन्तु राम ने तत्काल जो उत्तर दिया था उससे हमारे साम्राज्य विस्तार के विरोध का प्रमाण मिल जाता है—

"अपि स्वर्णमयी लंका न रोचते लक्ष्मण।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि च गरीयसी॥"

इस उद्धरण से हमें कतई यह नहीं समझना चाहिए कि हिन्दू राजे साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध नहीं करना चाहते थे। कई राजाओं ने साम्राज्य-विस्तार के लिए लड़ाइयाँ की थी। किन्तु हिन्दू-धर्म धर्म-परिवर्तन करने के विचार में आस्था नहीं रखने वाला धर्म है। कोई भी व्यक्ति हिन्दू-धर्म को छोड़ सकता है और दूसरा धर्म स्वीकार सकता है। पर कोई उसमें आ नहीं सकता है। हिन्दू धर्म उत्पादन-संबंधों, धर्म शासन और राज्य प्रणाली और

शोषण एवं सम्पत्ति के विधानों तथा अन्त में दर्शन की एक सम्पूर्ण संहिता है। धर्म की ऐसी प्रणाली अन्य धर्मों में कहीं दिखलाई नहीं पड़ती है। फलतः भारतीय जनता धर्म भीरू जरूर है लेकिन धर्म का नाश इसे अपने साथ बांध नहीं ले जाता। आजादी की लड़ाई में हिन्दूधर्म को इस्तेमाल कर साम्प्रदायिक राजनीति को अग्रगति प्रदान करने की कम कोशिश हिन्दू महासभा ने न की थी किन्तु उसे सफलता कहाँ मिली ? हिन्दू धर्म के विपरीत मुस्लिम लीग इस्लाम के नाम पर एक राज्य के निर्माण में सफल हो गया और आज तक पाकिस्तान रूपी राज्य का एक भाग धर्म के नाम पर भूट्टोमियाँ बरकरार रखने में सफल होते जा रहे हैं।

अन्ततः, धर्म और राजनीति के संबंध के सन्दर्भ में हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) धर्म मनुष्य का व्यक्तिगत विश्वास है, उसमें किसी दूसरे के हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

(२) धर्म एक जमाने तक मानवीय-मूल्यों का दूसरा नाम था, आज धार्मिक मानवीय मूल्यों ने अपने अर्थ खो दिये हैं। उनकी जगह पर नये मूल्यों का निर्माण हो रहा है जिसमें तर्क और बुद्धि का स्थान अधिक है अन्ध विश्वास का कम।

(३) धर्म नियंत्रित राज्यों का उन्मूलन आज बहुत जरूरी हो गया है। क्योंकि आज ऐसे राज्य घृणा, द्वेष और युद्ध भड़काने का काम करते हैं। ऐसे राज्यों में शोषण और जुल्म की कोई सीमा नहीं है।

(४) राज्य के लिए जरूरी है कि वह अपने नागरिकों को धार्मिक विश्वास के लिए पूरी छूट दे। किन्तु अपने राज्य के अन्तर्गत धार्मिक रूढियों के नाम पर हो रहे अत्याचार में हस्तक्षेप करे।

(५) धर्म मानवता के रक्षकों और विरोधियों दोनों के लिए रक्षा-कवच का काम करता रहा है। किन्तु शोषको ने जहाँ इसका इस्तेमाल अत्याचार के लिए किया है वहाँ शोषितों ने इनके अत्याचार को समाप्त करने के लिए।

भारत में—

(६) धर्म और राजनीति के सम्मिश्रण से क्रान्तिकारी शक्तियों के विभाजन में मदद मिली थी। इससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला था, जिसे ब्रितानी शासकों ने 'फूट डालो और शासन करो' की अपनी नीति को चलाने के लिए एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया था। इससे आम हिन्दू और मुसलमान जनता में वर्गचेतना जगाने के रास्ते में भी रुकावटें खड़ी हुई थी। धार्मिक आस्था के प्रति वफादार रहने की अपीलों से आम जनता के मस्तिष्क में सामन्ती विचारों और भावनाओं का ही संरक्षण हुआ था, और सामन्तवाद विरोधी आन्दोलन की परिधि और भी सीमित हो गई थी।

फिर भी—

(७) पूर्वी देशों की सामाजिक प्रकृति के अनुरूप राष्ट्रवादी विचारधारा का धार्मिक रंग आजादी के संघर्ष में एक निर्णायक शर्त के रूप में उभरा है जिसके अस्तित्व को कभी

नकारा नहीं जा सकता है। क्योंकि एशियाई-अफ्रीकी देशों का राष्ट्रीयतावादी धार्मिक आदर्शवाद साम्राज्यवाद-विरोधी भावना से अभिप्रेरित रहा है।

इन निष्कर्षों के बाद मैं एक घटना का उल्लेखकर अपनी बात समाप्त करना चाहता हूँ। १८५० में ओहियो के सलेम नामक स्थान पर गुलामी प्रथा के विरोध में एक सम्मेलन हो रहा था। गृहयुद्ध के पहले, दास प्रथा के विरोधियों को अक्सर बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। लेकिन फुगिटिव स्लेव लॉ के पारित हो जाने के कारण उन्हें एक विशेष स्थिति से होकर गुजरना पड़ रहा था। सलेम के इस सम्मेलन को संबोधित करते हुए फ्रेडरिक डॉगलास नामक व्यक्ति मौजूदा। अत्याचारों का जिक्र करते हुए कह रहा था—'रक्तरंजित विद्रोह' के अतिरिक्त अब न्याय की कोई उम्मीद नहीं दिखलाई पड़ रही है। गुलामी की समाप्ति संभवतः अब खूनी क्रान्ति से ही हो सकती है।" डॉगलास की इन पंक्तियों की समाप्ति के साथ ही सोजोरनर ट्रूथ नामक एक महिला चिल्ला उठी : "फ्रेडरिक क्या ईश्वर मर गया है?" उत्तर मिला—'नहीं।' और चूँकि ईश्वर मरा नहीं है; अतः गुलामी की समाप्ति केवल खूनी कान्ति से ही हो सकती है।"

फ्रेडरिक और सोजोरनर के इस संवाद के साथ दो प्रश्न उभरते हैं। पहला यह कि जो ईश्वर में आस्था रखते हैं उनके लिए ऐसा सोच पाना ही कठिन है कि ईश्वर गुलामी को हटाने के लिए खून बहाने की इज़ाजत दे सकता है। दूसरा यह कि 'वह' ऐसी इज़ाजत जरूर देगा। ये दोनों धारणाएँ सही मालूम पड़ती हैं क्योंकि दासता अवसादजनक हैं, इसलिए यह अन्यायपूर्ण है; चूँकि अत्याचार ईश्वर के लिए अपमानजनक है; अतः इसका प्रश्न ही नहीं उठता है। इसलिए ईश्वर गुलामी को समाप्त करने के लिए आगे आयेगा—यह एक निश्चित बात है।

शेख मुजीबुर्रहमान और यहिया खाँ दोनों तो खुदा के नाम पर आमने-सामने आये। यहिया खाँ को अत्याचार करने की इजाजत खुदा से मिली थी और बंगबन्धु मुजीब को अत्याचार सहन करने की। फिर क्या हुआ—यह तो दुनिया के सामने है।

निक्सन ने भी ईसामसीह से वीयतनाम में अत्याचार करने की अनुमति ले ली है। इतिहास बतलायेगा कि इस अनुमति का परिणाम क्या होगा। मुझे तो इतना ही कहना है कि ऐसे तमाम धर्म में विश्वास करनेवाले राजनायकों को—गॉड दैट फेल्ड की अनुभूति शीघ्र ही होने को है।



नहि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः
तद वनं भवति राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति

जहाँ राम राजा नहीं हैं वह राष्ट्र नहीं है। वह वन भी राष्ट्र है जहाँ राम राजा है।

—रामायण

राजनीति और मूल्य

तलत कमाल

आज की स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि व्यक्ति और समूह का जीवन कुछ अलग-अलग दायरों में विभक्त है। यह स्थिति क्यों और कैसे हुयी।

समाज एक काल से दूसरे काल तक जब अपना सफर तय करता है तो उसमें मूल्य का भी परिवर्तन होता है। राजनीति भारतीय संस्कृति में और दूसरे समाज की तरह धर्म के साथ-साथ चलता था। मगर जब एक शोषण की प्रणाली, जिसको हम धर्म निरपेक्षता से याद करते हैं अपनानी पड़ी तो राजनीति सत्ता से मिल कर प्रधान हो गयी और धर्म अपनी पुरानी परिभाषा और नयी परिभाषा दोनों के अनुसार कुछ अलग समझा जाने लगा। धर्म की परिभाषा भारतीय संस्कृति में रीति-रिवाज और उसके अनेक रिचुअल से जुड़ गई। जब लोकतांत्रिक प्रणाली राजनीति में अपनाई जाने लगी तो अनेक प्रकार के धर्म समाज में होते हुए भी धर्म निरपेक्षता की बात की गई। इसलिए कि भारतीय समाज अपनी पुरानी संस्कृति के आधार पर केवल एक ही धर्म से सारी प्रेरणा नहीं ले सकता। आज की स्थिति में दूसरे धर्म तथा उनके मानने वालों का भी एक प्रश्न सामने था। धर्म निरपेक्षता की यहाँ और परिभाषायें हैं वहाँ सबसे पहली और सीधी परिभाषा यह है कि राजनीति में धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव न रखा जाय। यह पुरानी संस्कृति के विपरीत नहीं हैं। मगर इस प्रकार के शासन की स्थापना का असली आधार पश्चिम ही था। मगर धर्म की जो महत्वपूर्ण और परिभाषायें यहाँ के दर्शन में मिलती हैं वह रीति-रिवाज से ऊपर कुछ मूल्यों पर आधारित हैं। मूल्यों का परिवर्तन तो होता है मगर ऐसे मूल्य भी हैं जो हर समय और काल में सामाजिक जीवन की पुष्टि के लिए जरूरी है। ऐसे मूल्य में धर्म और कर्तव्य का सीधा एक संबंध है। जो सामूहिक जीवन में अपनाने पर भी अलग-अलग धर्मों की छाप नहीं लग सकती। जैसे सच्चाई, ईमानदारी और चरित्र जो भ्रष्टाचार और विराज की स्थिति में किसी भी धर्म के माननेवालों को पुष्टि दे सकता है और उसके प्रति आदर और व्यवार मानव समाज समाज की धुरी बन सकता है। किसी भी धर्म में सच्चाई, ईमानदारी, अच्छाई और उसके ईनाम का कुछ सिद्धान्त मिलेगा जो आदमी को चरित्र-हीन बनाने से बचाता है। यहाँ पर जब हम राजनीति की चर्चा करते हैं तो हमें दो नाम लेना ही पड़ता है। राजनीति का वह एक आधार है जिसको मैक्यावेली ने दो विभिन्न दायरों में बाँट दिया। राजनीति और एथिक्स। इस प्रकार से राजनीति एथिक्स से अलहदा हो गयी। नतीजे में हमारे व्यवहार और चरित्र पर इसका प्रभाव पड़ने लगा है। इस प्रभाव ने हमें उन मूल्यों की श्रद्धा से भी दूर कर दिया जो सामाजिक एवं सामूहिक जीवन के किसी भी काल में धूरी बनते थे। और सामाजिक एवं

राजनीतिक प्रक्रिया के चाक को इस तरह घुमाते थे कि मानवता पर कोई हस्तक्षेप न हो। इस सिलसिछे में इतना ही कहना है कि राजनीति जिस किसी समाज और संस्कृति में अपनायी जाती है उस पर अपनी संस्कृति के मूल्यों की छाप होती है। श्रद्धा के कभी यह माने नहीं होते कि एक धर्म को आधार मान लिया जाय बल्कि इनके विपरीत हमारा आदिम मानवता की भलाई और चरित्र का विकास, राजनीति और सत्ता के संदर्भ में इस प्रकार से हो कि मूल्यों का आदान-प्रदान होते हुए भी बुनियादी मूल्यों में अपना विश्वास और श्रद्धा रखना ही होगा।

किसी भी संस्कृति में उसका इतिहास, उसका एपिक उसका लीजेंड और उसको प्रवल कहानियाँ भी उसके आत्माओं से जुड़ी है 'उससे ऐसा नतीजा निकालना जिससे मानवता का विकास हो, यह धर्म की संकीर्ण परिभाषा से अलग हो जाती है।

दूसरा नाम इस सिलसिले में महात्मा गान्धी का है जिन्होंने धर्म को एथिक्स के माने में विशेष रूप से माना है और मानवता के विकास के लिए जरूरी बतलाया था। उस तरह की विचार धारा भारतीय दर्शन में पायी जाती है जिनके और भी प्रवर्तक हैं। उनकी कोई लम्बी सूची यहाँ नहीं देनी है। बस इतना कहना है कि भारतीय समाज और संस्कृति में धर्म की विभिन्नता को स्वीकार करते हुए भी ऐसे मूल्यों का समन्वय है जो बुनियादी हैं। मानव धर्म के विकास का एक माध्यम बन सकते हैं।

आज की स्थिति में जब कि धर्म निरपेक्ष समाज और सरकार की स्थापना के लिए संकल्प लिए हैं इन्हीं मानों में धर्म और राजनीति के दो पहिये मानवता की श्रद्धा को बढ़ा कर सत्ता को उनकी भलाई का एक माध्यम बना सकते हैं। उसके विपरीत हमारा जो कदम होता है वह सत्ता को आधार बनाता हैं और चरित्र का एक ऐसा दृष्टिकोण हमारे सामने आता है जो भ्रष्टाचार और मूल्यहीनता की ओर ले जाता है। राजनीति का स्वरूप मानव की भलाई, विकास और सुधार के बदले पूरे समाज को ऐसी खाई के किनारे खड़ा कर देता है जो बर्बादी को आमंत्रित करता हैं।

राजनीति में जब सत्ता का प्रतिष्ठापन होता है तो सबसे पहली बात जो देखने में आई है वह यह है कि साधन और काया दोनों भिन्न हो जाते हैं और साधन की पवित्रता आवश्यक नहीं रह जाती। यहीं से पीढ़ित समाज का उद्भव होता है।

दूसरा प्रश्न जो सामने आता है वह यह है कि किसी भी संस्कृति में जो मिथ्स और लीजेन्ड्स हैं उन पर धर्म की छाप बनी है मगर जब एक काल से चलकर समाज हमारे काल की ओर बढ़ता है तो उनकी रूप रेखायें भी बदलती है और उनकी परिभाषायें भी समय के अनुसार बनायी जाती हैं। दूसरे देशों में भी जब एक धर्म जुड़े हुए मिथस् और लीजेंड्स भरे पड़े हुए थे तो दूसरे धर्म का प्रवेश हुआ और धीरे-धीरे दूसरा धर्म फ़ैलने लगा तो उससे आचरण में जहाँ अन्तर हुआ वहाँ स्थानीय परम्पराओं को अपनाया गया तो वह भी एक समय आया कि प्राचीन काल के धार्मिक सूरमाओं को भी पूरे देश में विना धर्म के भेद के उन मिथस् और लीजेन्डस् को अपनाया। केवल एक उदाहरण मैं दूँगा। वह ईरान देश का हैं। सोहराब और रूस्तम इस्लाम के पूर्व के धार्मिक नायक थे जिनको बाद में क्रीतदासी जैसे नायक ने इस्लामिन्क काल में अपना लिया। यह एक प्रक्रिया है जिसको हम सिक्यूलराइजेशन आफ मैथलाजी कह सकते हैं और जिसमें धर्म अपने राष्ट्रीय संस्कृति से जुड़ जाता है और उसके विकास में सहायक होता है।

निष्ठाओं में तालमेल और साम्प्रदायिकता

मुहम्मद रफ़ीक़ खाँ

भारत में साम्प्रदायिकता का शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है । साधारणत: यह उस समय इस्तेमाल होता है जब अलग-अलग धार्मिक सम्प्रदायों के लोग अपने ही धार्मिक सम्प्रदाय के स्वार्थ की बात करते हैं और पूरे देश के स्वार्थ को ध्यान मे नहीं रखते । अगर कुछ लोग केवल अपनी ही जाति, क्षेत्र या भाषा के स्वार्थ को ध्यान में रखते हैं और इस प्रकार अपने धार्मिक सम्प्रदाय के स्वार्थ को सामने नहीं रखते या उसको खण्डित करते हैं, तो वह एक स्तर और नीचे आ जाते हैं । जो लोग धार्मिक साम्प्रदायिकता को अच्छा समझते हैं उनको यह शिकायत होती है कि जातिवाद या क्षेत्रवाद के कारण धार्मिक सम्प्रदाय की एकता में फूट पैदा होती है और वह कमजोर हो जाता है । ठीक इसी प्रकार जो लोग राष्ट्रवादिता को मानते हैं वह धार्मिक साम्प्रदायिकता को गलत समझते हैं । क्योंकि इसके कारण पूरे देश का स्वार्थ सामने नहीं रहता और वह कमजोर होता है । कुछ आदर्श वादी लोग पूरे विश्व को एक साम्प्रदायिक के रूप में देखना चाहते हैं । उनको राष्ट्रवादिता भी अच्छी नहीं लगती । वे लोग राष्ट्रवादियों पर इसी तरह नाराज होते हैं, जैसे राष्ट्रवादी लोग धार्मिक साम्प्रदायिकों पर और धार्मिक साम्प्रदायिक लोग जातिवादियों, क्षेत्रवादियों और भाषावादियों पर और जातिवादो लोग परिवारवादियों, पर । जो लोग जोश में आकर केवल विश्व साम्प्रदाय की बात करते हैं वे उसके नीचे जितने प्रकार के सम्प्रदाय हैं उनसे निष्टा रखना मनुष्म के लिए हानिकारक समझते हैं । कुछ लोग केवल राष्ट्रीय साम्प्रदाय तक ही अपने को सीमित रखते हैं और उसके नीचे जितने भी सम्प्रदाय हैं, जैसे धार्मिक सम्प्रदाय और जाति सम्प्रदाय इत्यादि उसको गलत समझते हैं । ठीक इसी प्रकार कुछ लोग धार्मिक साम्प्रदायिकता तक ही अपने को सीमित रखते हैं और उसके नीचे जातिवाद और क्षेत्रवाद को बुरा समझते हैं ।

इन अलग-अलग प्रकार की साम्प्रदायिक निष्टाओं के पीछे उनके माननेवालों के कुछ राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वार्थ निहित होते हैं । अलग-अलग देशों की परिस्थितियों का अध्ययन करने से पता चलता है कि जो धार्मिक सम्प्रदाय किसी देश में बहुत ज्यादा बहुमत में होता है, वह साधारणत: धार्मिक साम्प्रदायिकता को बुरा कहता है और राष्ट्रियतावादिता को अच्छा समझता है । जिनका सम्प्रदाय अल्पमत में होता है वे साधारणत: धार्मिक साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवादिता, भाषावादिता और जातिवादिता या रंग वादिता को बुरा नहीं समझते वही सम्प्रदाय जो किसी देश में अल्प-मत में होने के कारण धार्मिक साम्प्रदायिकता को जरूरी समझता है दूसरे देश में बहुमत में होने के कारण राष्ट्रवादिता की बात करता है और धार्मिक

सांस्कृतिक या भाषिक इत्यादि आधारों पर किसी भी माँग को अत्यन्त गलत और हानि-कारक मानता है। यू० पी० और बिहार के बहुत से मुसलमानों को शिकायत है कि उर्दू को खत्म कर दिया गया और उन पर दूसरी भाषायें लाद दी गईं। लेकिन यही लोग पुराने पूर्वी पाकिस्तान जो अब बंगला देश है, में उर्दू को लादने के हक में थे और बंगाली भाषा को खतम कर देने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। यह बात सिर्फ मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है, स्वयं हिन्दुस्तान में और संसार के दूसरे देशों के लगभग हर सम्प्रदाय के काफी लोग इसी ढँग से सोचते हैं। इस तरह की मनोवृत्ति को चाहे आप बेइमानी कहें, चाहे अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और धर्म इत्यादि से अनुचित प्रेम कहें या चाहे और कोई नाम दें, वास्तव में पूरे विश्व में फैली हुई है। और साधारण जनता पर इसका काफी असर है। इसके कारण आपसी टकराव भी होते हैं, हिंसा होती है और कभी-कभी युद्ध भी हो जाते हैं। कई उदा-हरण ऐसे हैं, जहाँ साम्प्रदायिक निष्ठाओं में टकराव के कारण देशों का बँटवारा भी हो गया है।

ऊपर जिस समस्या का उल्लेख किया गया है, उसका हल निकालना हर समझदार आदमी के लिये आवश्यक है। कई प्रकार के हल सोचे भी गये। मैं केवल इनमें से तीन की ओर इशारा करूंगा। पहला इलाज जो अक्सर कुछ नौजवान लोग पेश करते हैं वह है कि हर व्यक्ति यह भूल जाय कि वह किसी धार्मिक या भाषायिक या क्षेत्रिय सम्प्रदाय का सदस्य है। उसको इन सम्प्रदायों की ओर कोई निष्ठा नहीं होनी चाहिये, केवल मानव-समाज की ओर निष्ठा होनी चाहिए। समस्या का यह हल न केवल असम्भव है, बल्कि यदि इसको कार्यान्वित भी किया जा सके तो असल समस्या संख्या की है। जो सम्प्रदाय संख्या में कम है, उसका कहना है कि यदि इस प्रस्ताव पर अमल भी हो सके, तो भी बहुमत में जो सम्प्रदाय है, उसका सांस्कृतिक दबाव बाकी रह जायेगा जबकि अल्पमत वाले का अपना विशेष व्यक्तित्व समाप्त हो जायेगा। इसका कारण वह यह बताते हैं कि दैनिक जीवन में तो उसी का प्रभाव हावी रहेगा और निर्णयात्मकयोगदान करेगा। जो बहुत बड़ी संख्या में है। इसलिए व्यावहारिक रूप में इस इलाज का भी वही प्रभाव होगा जो उन परिस्थितियों में बीता है, जब हर व्यक्ति अपने ही सम्प्रदाय को आगे बढ़ाने की कोशिश करता है।

दूसरा प्रस्ताव जो आमतौर पर आजकल अधिकतर प्रचलित है, वह यह है कि राष्ट्र के स्तर पर जो सम्प्रदाय बनता है, उसकी ओर निष्ठा को सर्वप्रथम प्रधानता दी जाय और बाकी दूसरे प्रकार के सम्प्रदाय जो राष्ट्र से कम दर्जे के हैं, उनकी ओर बाद में ध्यान दिया जाय। इस विचार का एक ही दोष है और वह यह कि राष्ट्र की रचना अलग-अलग ऐति-हासिक परिस्थितियों में मुख्यतः राजतीतिक आधार पर हुई है। पाकिस्तान अभी कुछ दिनों पहले बंगाल समेत एक राष्ट्र माना जाता था, यद्यपि वस्तुस्थिति इसके विपरीत थी जैसा कि बंगला देश की क्रान्ति ने साबित कर दिया। जो लोग इस विचारधारा को नहीं मानते, उनका कहना है कि जो दूसरे प्रकार के सम्प्रदाय किसी विशेष राष्ट्रीय सीमा के अन्दर हैं, उनकी ओर निष्ठा केवल इसलिए अनुचित नहीं हो जायेगी कि कुछ दिनों पहले कुछ नेताओं ने यह

निर्णय कर लिया कि पृथ्वी का एक भू-भाग एक राष्ट्र है। उनका यह भी कहना है कि इस विचारधारा से सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक स्वायत्तता पर रोक लग जाती है।

तीसरा प्रस्ताव यह है कि हर प्रकार की निष्ठा को कमोवेश प्राकृतिक मान लिया जाय और इनमें आपसी टकराव की सम्भावना को न क़ेवल रोका जाय, बल्कि उनको अनुचित माना जाय। हर व्यक्ति को अपनी भाषा, संस्कृति, जाति, क्षेत्र, मातृभूमि, देश, धर्म, ऐतिहासिक स्मृतियाँ, इत्यादि इत्यादि से एक प्रकार का लगाव होता है। यह कहना कि इनमें से किसी एक निष्ठा को किसी दूसरी निष्ठा पर प्रधानता प्राप्त है, बहुत कठिन है। हर निष्ठा अपने अपने स्थान पर और उचित समय पर आगे बढ़ कर प्रधानता प्राप्त कर लेती है। उदाहरण स्वरूप किसी व्यक्ति को इस बात के लिए बाध्य करना कि उसको अपने मां-बाप, पत्नी, बच्चे, भाई-बहन, इत्य दि लोगों से जो निष्ठाएँ हैं, उनमें वह किसी एक को मुस्तकिल तौर पर प्रधानता दे और बाकियों को भी प्राथमिकता के आधार पर व्यवस्था दे, न केवल अनुचित होगा बल्कि अप्राकृतिक भी। यह बात मान लेनी चाहिये कि हर व्यक्ति को इसका अधिकार हो कि वह अपनी निष्ठाओं में से हरएक का उचित रूप से इस्तेमाल कर सके। मगर साथ ही हर व्यक्ति को इस बात के लिए तैयार रहना चाहिए कि वह अपनी निष्ठाओं में इस प्रकार ताल-मेल पैदा करे कि जिस भू-भाग में वह रह रहा है, उसके पूरे स्वार्थ को चोट न पहुंचने पाये। इसका अर्थ यह हुआ कि मौलिक प्रश्न हमारी निष्ठाओं में प्रधानता और प्राथमिकता का नहीं है, बल्कि उनके अन्दर पारस्परिक तालमेल पैदा करने का है। यह उचित होगा कि समाज में हर व्यक्ति को जहाँ उसकी निष्ठाओं के व्यक्त करने का अवसर दिया जाय, वहाँ इस बात का भी पूरा-पूरा इन्तजाम किया जाय कि ये निष्ठायें एक दूसरे से टकरायें नहीं। गाँधीजी ने समुद्री लहरों का जो उदाहरण दिया था, उसको ध्यान में रखते हुए हर प्रकार की निष्ठाएँ फल-फूल सकती हैं। और अन्त में हर व्यक्ति की जो निष्ठा पूरी मानव-जाति की ओर होनी चाहिये, वह उद्देश्य भी पूरा हो सकता है।

यह बात कहना तो आसान हैं, लेकिन इसको व्यावहारिक रूप देना कठिन है। जो कदम तुरन्त उठाया जा सकता है वह यह कि जो लोग इस विचार से सहमत हों, वह अपनी अपनी निजी जिन्दगी में इस पर अमल करें। उनका उदाहरण देखकर दूसरों पर अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। मैं यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि आम तौर पर भाषण और लेखनी में तो लोग बड़ी ऊँची ऊँची बातें कहते रहते हैं, मगर स्वयं अपने जीवन में उस पर अमल नहीं करते।



यथा साधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया

जैसे भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ मधु का स्वाद लेता है उसी प्रकार राजा प्रजा को कष्ट दिए बिना धन ले। —विदुर नीति

धर्म मूलक राजनीति

यशपाल शास्त्री

धर्म और राजनीति में कौन किसका अंग है इस सम्बन्ध में विद्वानों में कितना ही मतभेद क्यों न हो किन्तु जीवन में इनका महत्त्व कोई नकार नहीं सकता । धृ धातु से निष्पन्न धर्म शब्द में जीवन की स्थिति है और ले जाने अर्थ वाली नी धातु से सम्बन्ध रखने वाला राजनीति शब्द उसकी गति है । जो ठहरना नहीं जानता वह चलेगा क्या और चलने की सामर्थ्य शून्य स्थिति जड़ता है । जीवन नहीं । यों भी स्थिरता के लिए गति अपेक्षित है और गति के लिए स्थिरता । लूला, चाँद, सितारे और यह भूमि भी अपनी गति के कारण स्थिर है, गति टूटी और विनाश आया । प्राणों की स्थिरता में जीवन गतिमान् है । परिव्राट का परिभ्रमण सारी आश्रम व्यवस्था का नियामक है और सम्राट् का नियमन वर्णों को गतीशील रखता है ।

धर्म ज्योति है, प्रकाश है जिसकी चंचलता में भ्रम उपजता है । नीति उसकी किरणें हैं हाथ पैर (कर, पाद) हैं जिनकी स्थिरता लुंज पुंज करती है । धर्म निश्चित है, अपरिवर्तनीय है । सूर्य की भाँति राजनीति बहुरूपिणी है, परिवर्तनशील है । सूर्य सहस्र किरण माना जाता है ।

व्यापारी लोग व्यापार में टिकने के लिए अनेक प्रकार की दौड़ धूप करते हैं, न जाने कितनी नीतियाँ अपनाते हैं ।

भारत में सनातनधर्मी लोग धर्म कार्य के प्रारम्भ में गणेश की पूजा करते हैं । गणेश शिव का पुत्र माना जाता है । शिव धर्म है, गणेश राजनीति है । धर्म की स्थापना के लिए राजनीति का आराधन अपेक्षित है ।

आजकल वसूल वाले परीक्षकों के पास कई-कई विश्वविद्यालयों से उत्तर पुस्तिकाएँ देखने को आ जाती हैं । समयाभाव या प्रमाद वश वे उन्हें देखने के लिए 'टच मैथड' अपनाते हैं, पारिश्रमिक कम हुआ तो 'स्मैल मैथड' से भी काम चला लेते हैं । पुलिस भी इस मैथड को काम में लाती है । उसके कुत्ते भी अपराधी को सूंघकर पहचान लेते हैं ।

गणेश गणपति का प्रतीक है और सूंड़ उसके स्मैल मैथड का । राजेंद्र बाबू से गिरिजी के उत्तराधिकारियों तक किस किस की फोटो में माला लटकाते फिरोगे किस-किस का नाम परीक्षार्थियों को रटाओगे, जो गणानांपति हुआ वह गणेश । अपना निजी नाम नदारद । रावण की गद्दी पर बैठने वाला रावण, वशिष्ठ भी गद्दी का उत्तराधिकारी वशिष्ठ भले ही युग सतयुग के बाद त्रेता भी समाप्त होने लगे । जार, पोप, शंकराचार्य सब ऐसे ही चलते

हैं न ? हां तो बात थी स्मैलमैथड की, लम्बे सूंड की जिसकी सहायता से उसे मूषकराज (चोर, लुटेरे और इधर उधर का कतरब्योंत करने वालों के सरताज) को दबाकर रखना है। सवारी बनानी है। शक्ति माता उसकी जन्मदात्री है जिसने उसे जन्म देते समय उसके बाप से स्वीकृति नहीं ली। हनन होना ही था, पर बाप ने बाद में उसी को जिलाया, लड्डू उसे दिये विषपान स्वयं किया। राजनीतिज्ञों के कारण धर्म को कितनी गालियां खानी पड़ती हैं कौन नहीं जानता ?

धर्म की मर्यादा निश्चित है शाश्वत है, सनातन है। सुख के लिए मुक्ति या मुक्ति का सुख सभी चाहते हैं, गुलामी किसी को पसन्द नहीं। वह सुख यदि किसी को मिल जाय तो किसी को मिल जाय तो उससे कौन हिलना पसन्द करेगा ! सब कोई वहीं अड़े रहना चाहेगा पर इसे पाने के लिए तो हिलडुल करनी ही होगी। यह हिलडुल ही राजनीति है जो साधक होते हुए भी कभी-कभी अपने साध्य के (धर्म के) नाम को अपना लेती है। इन्द्रार्थाः स्थूणाः अमी इन्द्राः दया और दण्ड दोनों राजनीति हैं। राजनीति ने धर्म का जामा पहना। कई बार कौतूहल से और कभी २ विवशता से बेटा बाप के कपड़े भी पहन लेता है। "दया धर्म का मूल है" "दण्डं धर्मं विदुर्दुधाः" दोनों धर्म बन गये। दया भी और दण्ड भी। पर वस्त्र उतारते ही फिर ज्यो के त्यों। विवेकानन्दजी के शिकओ भाषण के अनुसार 'पिटी इज द ग्रीटेस्ट वीकनेस आफ ह्यूमन बीइंग।"

हाँ तो बेटी ने बाप का नाम ले लिया। पर लच्छन अपने रक्खे। कभी और कही परिवार बढ़ाना धर्म, कभी और कहीं परिवार नियोजन धर्म। कभी एक पत्नीव्रत आदर्श और कभी वहुपत्नीत्व (युद्ध में युवगनों के समाप्त प्रायः हो जाने पर) श्लाघनीय।

एक समय आया। भारत में अधिक दूध के लोभ में लोगों ने भैंसे पालनी शुरू कीं। गाय की लात कौन खाये लोटा भर दूध के लिए। बस एक लहर चल पड़ी। देखा-देखी, अन्धा-धन्धा पर परिणाम ! लोग सुस्त और सोतड़ू बन गये। समाज और राष्ट्र रसातल को जाने लगा। कोई कुछ भी करना पसन्द ही नही करता था। ऐसे में एक महिला आगे आई उसने भैंस को राक्षस बताकर उसके बध करने को पुण्य कहा। भारतवासी ठहरे (भाः + रत-आध्यात्मिक ज्ञान में ही रीत रखने वाले) मान गए। मानते भी क्यों न काशी में आरे से चीर कर पुण्य पाने की अपेक्षा भैसको मार कर पुण्य का भागी हो जाना काफी सस्ता था। हराम का मत खाओ, हलाल का खाओ। वह खाओ जिसे पाने में मेहनत मशक्कत लगे, पसीना बहे, हज़रत मुहम्मद साहब के इसी आदेश को पालने के लिए उनके अनुयायियों ने अपनी सुविधा का ध्यान रखकर पशु को जिवह करते हुए अपना पसीना बहाना शुरू किया है। महिला की बात मान ही गई। वह देवी बन गई और आज भी हम उस महिषासुर मर्दिनी का नाम सुनकर श्रद्धावनत हो जाते हैं।

देवासुर संग्राम दो विरोधी संस्कृतियों की टक्कर है। जिनकी राजनीतिक मर्यादाएँ सर्वथा विपरीत दिशा में गतिशील थीं। एक ओर थे असुर (सुरा तक न पीने वाले) और दूसरी ओर देव (दिवु-क्रीडा) काम क्रीडा में लगे रहने वाले, जिन्हे हर समय सोम पान सूझता था। पत्नियाँ तक कॉमन थीं। बच्चों और बूढ़ों की जिम्मेदारी राज्य पर होने के कारण

समाज केवल जवानों का था। पौष्टिकखाद्य तथा धनवन्तरी की अमोघ औषधियों के वल पर वे अपने को अजर तथा अमर समझते रहे। पर चाहे असुर रहे हों या देव, सबका सामूहिक लक्ष्य (नीतियों के परस्पर विरुद्ध होते हुए भी) स्वास्थ्य, समृद्धि, सुख और मुक्ति ही था।

आर्य संस्कृति के स्वर्ण युग में लंका की ओर राक्षस संस्कृति भी थी। दूसरे पड़ोसी राज्यो में लूट-पाट करना, उनकी बहू-बेटियों की इज्जत लूट कर उनकी हत्या कर डालना इनकी आदत बन गयी थी। पर चार दिन चोर के तो एक दिन साध का भी होता है। कभी हारना भी पड़ता। घर छोड़कर भागने को भी विवश होते। ऐसे में दूसरों पर किए अत्याचार उन्हें याद आ जाते, दिल में चोर होता था न ? सोचते, कहीं हमारे पीछे इनकी भी वैसी ही हालत न हो जाय जो हम अब तक दूसरों की स्त्रियों को कहते रहे हैं। जो कि निर्धारित करनी पड़ी। धर्म घोषित किया गया। पति के मरने पर पत्नी को सती हो जाना चाहिए। पर यह प्रथा उन्हीं तक सीमित रही सुलोचना, मन्दोदरी आदि ही सती हुई। दशरथ की कोई रानी सती नहीं हुई।

राजपूत काल में इस प्रथा का ज्वार आर्य प्रदेश में भी आया। शायद समय की पुकार थी। आक्रान्ता वैसे ही आतताई थे। बंगला देश की स्त्रियों के साथ जो बीती हैं उसके मुकाबले में सती प्रथा को अधिक यातनाप्रद नहीं कहा जा सकता।

अभिप्राय यह है कि राजनीति कर्त्तव्य है और धर्म लक्ष्यक। क्या करें क्या न करें इसके बारे में कवि भी मोहित रहते हैं फिर नीति भेद क्यों न हो। पर हम इस भेद से डरें क्यों ? भय तब होना चाहिए जब लक्ष्य का खूंटा स्थान से हिलता दिखाई दे। दो राज्यों में मेल अभीष्ट है। पहले इसकी सिद्धि वैवाहिक सम्बन्धी द्वारा की जाती थी। अब व्यापार और सहायता समझौतो द्वारा होती है। कल शायद कोई और मार्ग निकल आवे।

वेद में ऋत और सत्य ये दो शब्द आते हैं। ऋत गतिशील सत्य का (ऋ-गती) तथा सत्य शाश्वत सत्य का बोधक है। हमारा व्यष्टिगत और समष्टिगत उभय जीवन इन्हीं के आधार पर चलता है। ऋत राजनीति है और सत्य धर्म है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए हमें गति और प्रकाश दोनों चाहिए। धर्म हमें मार्ग दिखाता है। राजनीति आगे बढ़ाती है।



अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः
प्रति संवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा।

जो राजा धर्म को छोड़ता है अधर्मका अनुष्ठान करता है, उसकी राज्यभूमि आग पर रखे चमड़े की भांति संकुचित हो जाती है। —विदुर नीति

धर्म और राजनीति

अनिल कुमार राय

राजनीति धर्म पोषित थी ! धर्माचरण और राजनीति में कोई भेद नहीं था। धर्म का अनुशासन राजा प्रजा सब पर समान था। राजा प्रजा का दुःख-सुख एक था। जो राजा धर्म विचलित होता था, वह दण्ड का भागी था।

आज भयावह स्थिति है। सन्तों में राजनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञों में सन्त—महात्मा जी—ने धर्ममय राजनीति का वरण किया, आज हमारी राजनीति अधार्मिकता से आक्रान्त है। उन्होंने सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों को उन्मलित करने का अनथक प्रयास किया पर विषमताएँ और कुरीतियाँ यथावत् हैं। धार्मिक पाषंड और राजनैतिक छल की मोहनिशा समाप्त कहाँ हुई ? महात्माजी ने भारतीय भाषाओं को अपनाने का संकल्प लिया, क्योंकि उनका विश्वास था कि अपनी भाषा के बिना उन्नति असंभव है। आज उन्हीं का नाम जप कर स्वार्थ साधने वाले ढिढोरची यह कहते नहीं थकते कि अंगरेजी गयी तो भारत रसातल चला जाएगा। 'रसा रसातल जाइहि तबहीं।' उन्होंने अपरिग्रह का सात्विकता का पाठ पढ़ाया, किन्तु अपने देश में संचय की गाँठ इस कदर कसती गयी कि जब कि मनोवृत्ति के लिए करणीय-अकरणीय का भेद लुप्त हो गया।

आज स्पष्टतः दो वर्ग हैं—एक कुंठित धार्मिक पुरुषों का दूसरा फरेबी राजनीतिज्ञों का। एक कर्त्तव्य मूढ़ अन्यमनस्क किंवा उदासीन है। 'किम् कर्त्तव्यम् ? किम् कर्त्तव्यम् ! की गुत्थी अभी तक इसकी सुलझ नहीं पायी है। दूसरा व्यर्थ विद्वेषी है, वियेक शून्य है, स्वार्थलिप्त है। क्षुद्र है, लकीर का फकीर है। एक ने कह दिया, 'धर्म अफीम है।' सभी जम्बुक हुआँ-हुआँ करने लगे, अनहद नाद गूँजने लगा, 'धर्म अफीम है, धर्म अफीम है।' और इसका जो कुपरिणाम हुआ है, यह अनजाना नहीं है। धर्म 'युग धर्म' को पीठ देकर पोगापंथी, पाषंडी, खटरागी और पलायनवादी होता जा रहा है। जब कोई समस्या आती है तो वह शुतुरमुर्ग की तरह रेत में अपना मुँह गाड़ लेता है और समझता है कि आँधी आई ही नहीं। 'मूदहुं आँख कतहूँ कोउ नाहीं'—यही उसका निदान है। दूसरा वर्ग निरंकुश और दंभी होता जा रहा है। राजनीति के नाम पर सत्तानीति का हिमायती। आज की उसकी स्थिति है, "परम स्वतंत्र नहिं सिर पर कोई, भावै मनहिं करै सोई सोई।" आज एक मठ सेवी है, मठी बना कोरा मन्त्र का जाप जपने वाला तो दूसरा तन्त्राधिकारी—तन्त्र का खुलकर खेल खेलने वाला।

आज धर्म का राजनीति से कोई रिश्ता नहीं रह गया है। परिणामतः आज का धर्म

विरहित राजनीति खेलों का खेल है, छल-छद्मों का वितान है, शकुनि का चाल है, रूपजीवी वाराङ्गना है। येन केन प्रकारेण सत्तासीन होना ही इस राजनीति की इष्ट है। सो चाटुकार, सिद्धान्त विहीन दल बदलू आयाराम गया राम के हाथ राजनीति गिरवी रख दी गई है। राजनीति को सत्तानीति समझने वाले, क्षुद्रातिक्षुद्र स्वार्थ से आन्दोलित महा प्रभुओं (?) को राजनीति का जन्म सिद्ध अधिकारी मान लिया गया है। मदिरालय सेवी मद्यपों के हाथ में राजनीति बसीयत हो गई है। आज की राजनीति को धर्म का उपहास करने वाले काले धन के उपासक नर पिशाचों की बपौती बना दी गई है। यह बपहँस ही पतहँस करा रहा है।

मेरा निश्चित मत है कि यदि धर्म और राजनीति का समन्वय नहीं हुआ, धर्म राजनीति को साधु सम्मत बनाने से विरत हुआ तो लोकतंत्र असमय ही विघटित होगा, अधिनायकवाद अभिषिक्त होगा और देश अनुदिन अभिशप्त होता जाएगा। राष्ट्रीयता के भाव क्षीण-क्षीणतर होते जाएँगे और देश अनेक दुर्बल, दरिद्र, भाषायिक, सम्प्रदायिक एवं प्रादेशिक उप खण्डों में विखण्डित होता जाएगा।

यह बात नहीं है कि धर्म और राजनीति की अलग-अलग जो खिचड़ी पक रही है, उससे केवल राजनीति ही बेजायका हो रही है। मैं यह स्वीकारता हूँ कि राजनीति के बिना धर्म भी रुजण एवं जरा रुर्जर है। मेरी दृष्टि में धर्म को स्वस्थ तथा राजनीति को मर्यादित बनाने के लिए धर्म और राजनीति का संग्रन्थन आवश्यक ही नहीं वरन् अपरिहार्य है। अन्यथा धर्म जड़ होता जाएगा और राजनीति पुंश्चली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि धर्म रूप वाराह के विवेक के वज्रद्रंष्ट्र से ही राजनीति को सत्तानीति के मलकोट से उबारा जा सकता है।

इस देश का यह दुर्भाग्य रहा हैं कि धर्म प्राण व्यक्ति राजनीति से संन्यस्त होते गए और निकृष्ट कोटि के छली, प्रपंची—अधार्मिक व्यक्ति राजनीति के सूत्र धार बन गये। परिणाम यह हुआ कि राजनीति दिन-व-दिन कलही और दूषित होती गयी। इसका निरन्तर रजस् से तमस् की ओर अधोगमन होता गया। जब कि अपेक्षा यह थी कि धर्म के आलोक का वरण कर रजस् से सत् की ओर यह उध्वर्ग होगो। क्षमा करें, मेरी यह निश्चित धारणा हैं कि यदि देश के सौभाग्य से स्वतंत्रता के उपरान्त महात्मा जी देश की राजनीति में सक्रिय हुए होते तो उनके राम राज का सपना सच साबित हुआ होता। तब आज का वशिष्ठ निःसंशय होकर भरत की फरियाद रख सकता था।

"भरत बिनय सादर सुनिअ, करिअ विचारु बहोरि।
करव साधु मत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि॥" [अयो० २५८]

आज धर्म की कुत्सा करने का और राजनीति को विगर्हणीय बताने का अवसर नहीं है। भारत का भाग्य क्या और विदग्ध करना है। हम अपने किये का 'कोउ नृप होइ हमें का हानी'—की अन्यमनस्क, दूषित मनोवृत्ति का भोग भोग चुके। अब हमें प्रानश्चित करना है अधिनायकशाही से, सैनिक अनन्याधिकार से एवं विखण्डन के दावानल से देश को उबार कर स्वस्थ लोकतंत्र के निर्माण के लिए राजनीति और धर्म का मधुर रिश्ता जोड़ना है। गांधी के सपनों के रामराज्य की स्थापना के लिए धर्म और राजनीयि का संग्रन्थन करना है।

यह राम राज है क्या ? गोस्वामी तुलसी दास जी गवाह हैं।

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपठ सयानी ॥

× × ×

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अरु रामचन्द्र के राज ॥ [उत्त, २२]

आज तो कोई भरत भी यह भी नहीं कह रहा है।

"कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू। चाहिए धरमसील नरनाहू ॥ [अयो० १७८।१]

सत्तारूढ़ दल पर ही मैं आक्षेप नहीं कर रहा हूँ। मैं यह नहीं कहता कि राजनीति को विकृत करने का दायित्व मात्र उसी पर है। इस धक्कमधुक्की में सभी शामिल।

'को बड़-छोट कहत अपराधू।' ए मियाँ टेढ़े त हम तुम से डेढ़े।

सत्तारूढ़ दल बँगला देश की मुद्दा बनाकर चुनाव लड़ रहा है तो हतप्रभ विरोधी दल बिहारी मुसलमानों का दाँव फेंकने का अधर्म कर रहा हैं। आज दोनों ही कालिख में सन गये हैं।

'केकर केकर लेई नाँव, कमरी ओढ़ले सगरे गाव।'

आज का विरथ विरोधी दल सत्ता संस्थान के अनाचर से भिड़ते समय राम के 'धर्म रथ' का विश्वास लेकर आगे नहीं बढ़ रहा है। राम ने शंकालु विभीषण से जिस महनीय रथ [लंका० दो०, ७९--८०] का बखान किया वह आज के राजनीतिज्ञों के लिए माननीय है।

मैं अपने इस लेख का समापन धर्म और राजनीति के समन्वय के आग्रही डॉ० राम मनोहर लोहिया की अधोलिखित शिवकामना से करना चाहता न।

"हे भारत माता ! हमें शिव मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो तथा राम का कर्म और वचन दो। हमें अलोभ मस्तिष्क और उन्मक्त हृदय के साथ-साथ जीवन की मर्यादा से रचो।



धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्
धर्म मूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते

धर्म से ही राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसकी रक्षा करे क्योंकि धर्म मूलक राज्यलक्ष्मी को पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है न वही राजा को छोड़ती है।

—विदुर नीति

धर्म और राजनीति

युगेश्वर

धर्म एक है। संघ अनेक हैं। संप्रदाय बहुत हैं। राजनीति एक है। सरकारों और राज्यों का बाहुल्य है। दोनों की प्रकृति-प्रवृत्ति बदलती रहती है। किन्तु उद्देश्य में समानता है। दोनों का कार्य क्षेत्र नर जीवन है। धर्म मनुष्य को ईश्वर के समीप ले जाना चाहता है। ईश्वर को न मानने वाले संप्रदाययी हैं। किंतु वे भी पवित्रता और उच्चाचार में विश्वास करते हैं। जो ईश्वर को नहीं मानते उनकी जिम्मेदारी और बढ़ जाती है। वे अपने कार्यों के कर्त्ता-भोक्ता दोनों होते हैं। इसलिये स्वयं को ठीक बनाते हैं। राजनीति मनुष्य को स्वर्गीसुख देना चाहती है। राजनीति का मुख्य संबंध मनुष्य के बाहरी जीवन से है। प्रत्यक्ष आचरण से है। रक्षा और योग की संस्थाओं से है। किंतु यह सब होगा कैसे? क्या राजनीति प्रशासक और शासक अपने विधानों द्वारा इसे पूरा कर सकते हैं? नहीं। राजनीति में 'नीति' महत्वपूर्ण है। नीति एक ओर नियम है। दूसरी ओर धर्म। धर्म एक ऐसा आचरण है जो सामाजिक जीवन को ठीक रखता है। उसके बिना कोई सामाजिक जीवन असंभव है। फिर भी राज-नीति मात्र भोग है। शरीर साधना।

राजनीति वह उपयोगिता है जो धर्म के कारण सुन्दर हो जाती है। राजनीति का अनुभव सुखात्मक है। धर्म से जुड़कर यह सुख आनन्द बन जाता हैं। धर्म एक चेतना हैं। विश्वास है। स्वभाव और गुण है। कुछ स्वतः स्फूर्त मर्यादाएँ हैं। राजनीतिक का आचरण दुहरा हो सकता है। समाज में कुछ। पर्दे के पीछे कुछ। किन्तु धर्म में ऐसा नहीं हो सकता। जहाँ ऐसा होता है धर्म खतम है। मात्र संघ या संप्रदाय है। संघ या संप्रदाय सड़क हो सकते हैं। गाड़ी नहीं हो सकते। कार तो होगा धर्म ही। राजनीति नियमों और कानूनों से चलती है। कोई चाहे तो इन्हें आँख बचाकर काम निकाल सकता है। नियमों का नियमन राजा, प्रतिनिधि, नौकरशाही, जनता या विशिष्टों के हाथ में होता है। ये प्रत्यक्ष चीजें हैं। प्रत्यक्ष की पहुँच भी प्रत्यक्ष होती हैं। कोई आदमी छिप कर पाप करे, अन्याय करे, कानून तोड़े, नियम भंग करे इनका कोई वश नहीं है। यही कारण है कि आधुनिक ढंग के न्यायालयों में लंबी और पेशेवर लोगों द्वारा बहसें होती हैं। इन बहसों का उद्देश्य सत्य को पाने जैसा होकर भी वह असत्य के पास पहुँच जाता है। कारण स्पष्ट है कम से कम ५० प्रतिशत बहस तो सत्य को छिपाने के लिये होती है। दो में से एक वकील बचाव पक्ष का होता है। फल क्या होता है? अपराधी बच जाते हैं। निरपराध को सजा मिलती है। तर्क और पैसों पर आधा-रित इन बहसों में किसी की आस्था नहीं। कोई अपने में परिवर्त्तन नहीं करना चाहता। तर्क ढूँढो, रुपया खर्च करो। वकील को भ्रमित और जज को प्रभावित करो आन्दोलन चलता है।

अपराध अगर तर्क और नियम द्वारा ही सिद्ध कानून हैं तो न्यायाधीश अपराधी का कुछ नहीं कर सकता। यद्यपि वह अपराधी को जानता है। नियम और कानून किसी की आदत नहीं बदल सकने। आदत धर्म से बदलती है। ईश्वर को अंतर्यामी कहा जाता है। सब के भीतर बैठा है। सभी के कर्मों का साक्षी है। यह ईश्वर धर्म है। सबके अंतर में बैठा है। प्रश्न है। अगर धर्म अंतर में बैठा है तो लोग अधार्मिक कैसे हो जाते हैं ? उत्तर सीधा है। अभ्यास के अभाव में भीतर का सत्यभी ढँक जाता है। खतम होता है। हम अपनी जेब में रखे पैसों को भूल जाते हैं। भूल जाते हैं कि हमारे घर में क्या-क्या रखा है। माँगते हैं। बालक गोद में होता है नगर में ढिंढोरा देते हैं। यह कौन सी मनः स्थिति है। संतों, महात्माओं, उपदेशकों का काम है इस भूल को सुधारना। सत्य पर समय की धूल जम जाती है। संत इसी धूल को हटाते हैं।

धर्म की परिभाषाएँ बेकार हैं। जो भी कहिए। धर्म मनुष्य को पशु से ऊँचा बनाता हूँ। राजनीति शरीर को पुष्ट करनेवाली शक्ति है। धर्म मन को, चित्त और हृदय को। इति-हास में कभी तो ये दोनों साथ चलते हैं। कभी-कभी अलग-अलग। कभी झगड़ते हैं। भारत में प्रायः धर्म की संस्थाओं का सभी जगह कब्जा था। अन्यत्र भी यही स्थिति थी। यूरोप में धर्म और राजनीति खूब लड़े। यहाँ धर्म से मतलब है संघ। संघ के कारण धर्म को समाज बहिष्कृत किया गया। अफीम घोषित हो गया। धर्म वालों ने अक्सर राजनीति कीं उपेक्षा की। मजाक बनाया। निंदा की। कुछ-कुछ खट्टे अंगूर की कहावत जैसी। आज के सर्वोदयी भी राजनीति से परहेज करते हैं। शैक्षणिक कार्यों में लगे लोग भी मखौल उड़ाते हैं। किंतु इससे न राजनीति दबती हैं। न धर्म लुप्त होता है। अच्छे और पवित्र लोगों के अभाव में संघ और सरकारों पर बुरे लोगों का अधिकार हो जाता हैं। सामान्य व्यक्ति परेशान होता है। जरूरत पड़ने पर मखौल उड़ानेवाला भीगी बिल्ली बन जाता है।

धर्म और राजनीति पर विचार करते समय धर्म निरपेक्षता पर विचार करना होगा। क्या धर्म निरपेक्षता कोई मूल्य बन सकता है ? जब मजहब भी वैर नहीं सिखाता है तो फिर निरपेक्षता क्यों ? होना चाहिए संप्रदाय या संघ निरपेक्षता। इसके मुकाबले धर्म-समन्वय, धार्मिक सहिष्णुता जैसी चीजों के विकास करने की जरूरत है। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेता तिलक, गोखले, गांधी आदि धर्म निरपेक्ष नहीं थे। वे धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समन्वय के पोषक थे। इसलिये कि वे संघ और संप्रदाय की अपेक्षा धर्म के मूल्यगत रूप में विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि में धर्म आचरण है। जो धर्म मनुष्य आचार को बदले। सुन्दर बनाए। मानव प्रेमी करे। विश्वमित्र बनाए वह धर्म है। शेष अधर्म है। सीधी और ठोस कसौटी है। उन्होंने धर्म के दश लक्षणों को साकार करने की कोशिश की। ये दश लक्षण सभी धर्मों, संघों और संप्रदायों के हैं। धर्म निरपेक्षता जैसे नकारात्मक नारे ने हमारे राजनीतिक जीवन में एक अभाव पैदा किया। रोज सत्य की प्रतिज्ञा करो। शायद कभी वह जीवन का अंग बने। सत्य का आचरण सामान्य नहीं है। किंतु यहाँ तो उल्टा हुआ। सकारा-त्मक मूल्यों को अस्वीकार कर दिया गया। धैर्य, क्षमा, मन को दबाना, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध (मनु० ६।९२) क्या ये किसी एक धर्म के लक्षण हैं ? क्या ये किसी भी देश के संविधान के प्रेरक तत्व नहीं बन सकते ? इन्हें संविधान के निर्देशों

में रखना था। ऐसा न कर हमने संविधान को ठोस आधार नहीं दिया। आर्थिक और राजनीतिक प्रतिज्ञाओं के साथ नैतिक धार्मिक प्रतिज्ञाएँ भी हो सकती हैं।

किंतु यहाँ प्रश्न सो दूसरा है। धर्म की इन बातों को राजनीति नहीं स्वीकार करती तो धर्म (संघ) ही, राजनीति को क्यों नहीं स्वीकार करता। अगर राजनीति शरीर है तो बिना शरीर के धर्म सासना कैसी ? शरीर ही तो धर्म साधना का आधार है। धर्म संघों ने अपना कार्य बन्द कर दिया है। उनका उद्देश्य तो धर्म को व्यावहारिक रूप देना था। व्यवहार देने के चक्र में उन्होंने कुछ पद्धतियों को ही धर्म मान लिया। धर्म का स्थान पद्धतियों ने ले लिया। मानव कल्याण का स्थान संघ, संप्रदाय का रक्षा भाव ने लिया। जब पद्धतियाँ और संप्रदाय मनुष्य से ऊपर हो गए तो धर्म समाज में रहकर भी अकेले का जीवन विताने लगा। इस समाज को पवित्र और सुन्दर बनाने के स्थान पर उसने संघों में पड़ा रहना श्रेयस्कर समझा। धर्म मन को बदलने के स्थान पर परंपरा की आवृत्ति हो गया।

राजनीति ने वादा किया था। समाज को बदलेगा। सवको सुख देगा। सामंतवाद; पूँजीवाद, औद्योगीकरण, मिश्रित व्यवस्था, समाजवाद आदि समी एक-एक कर आए। किंतु मनुप्य की समस्याओं का सुधार नहीं हो सका। किंतु इनकी भूमिका बिल्कुल निरर्थ भी नहीं। इन्होंने काम किया। सभी राजनीतिक विचार जब तक धर्म या नीति को तपन रखते हैं कुछ करते हैं। फिर बेकार। प्रश्न आस्तिक या नास्तिक का नहीं है। आस्तिक राजनीति ढोंगी फिर क्रूर हो जाती है। नास्तिक राजनीतिक चालाक फिर क्रूर बनती है। यही कारण है कि समाज की सामान्य दुनिया में राजनीति बदनाम है। छल, प्रपंच, धोखा, हत्या इसका धर्म है। किन्तु राजनीति ने शोषण, अन्याय और असमानता के विरुद्ध लड़ाई की है। लाखों स्त्री-पुरुषों ने अपना निस्व त्यागा है। विना संत और महात्मा की उपाधि पाये जीवन को जेल और जंगलों में विलीन कर दिया है। यह कहना कि वे सभी सत्ता के इच्छुक मात्र थे अन्याय होगा। दुनिया ऐसे ही बलिदानियों से बदलती है। खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं कहनेवाले सत्तालोलुप नहीं थे। आज की स्वतंत्रता उनके बलिदानों का फल है। राजनीति का एक रूप वह है जब अपने देश, धर्म, संस्कृति के लोगों को भी वर्बाद करने की कोशिश की गई। स्त्रियों के साथ बलातकार आम हो गया। बच्चों की हत्यायें पेशा बन गयीं। युवकों और विद्वानों को मारना कर्त्तव्य हो गया। ऐसी घटनाएँ लोकतंत्र के देशों में भी कमोवेश हो जाती हैं। पुलिस द्वारा निहत्थी भीड़ पर गोली। वेगुनाहों को फँसाना। विरोधी को मरवा देना। राजनीतिक संगठन ऐसा बना देना कि लाखों व्यक्ति सामान्य जीवन सुविधा भी न पा सकें। जबकि कुछ लोग ऐय्याशी में वर्वाद हों।

सांप्रदायिक कहे जाने वाले दलों ने धर्म और राजनीति के रिश्ते को बिगाड़ा हैं। धर्म के नाम पर देश बँटा हैं। कत्लेआम हुए हैं। स्थिर स्वार्थ की रक्षा की गयी है। भूख और नग्नता की उपेक्षा की गई है। बड़े-बड़े दंगे हुए है। इसे हम धर्म संघ की राजनीति कहेंगे। धर्म का केवल इस्तेमाल हुआ हैं। राजनीति का प्रयोग नीच स्वार्थों के लिये हुआ है। हम इन्हें धर्म का चाहें जितना नाम दें ये अधार्मिक काम है। जब दो संप्रदाय धर्म की मूल बातों को छोड़ परस्पर अविश्वास में लग जाते हैं। एक दूसरे को दबा ले जाना चाहते हैं तब बिषम स्थिति

होती है। धर्म हो या राजनीति समय के साथ क्रूरता आ जाती है। हिंदू धर्म में छू जाने की क्रूरता आ गयी। ऐसी क्रूरताएँ दूसरे धर्मों में भी हैं। सांप्रदायिक दलों की क्रूरता क्या वैसी ही हैं। हाँ और नहीं भी। हाँ इसलिये कि क्रूरता का भाव समाज में है। हिन्दू मुसलमान को अपवित्र मानता है। मुसलमान हिन्दू को काफिर। नहीं इसलिये कि ये बातें संघर्ष का आधार बनती हैं। किन्तु संघर्ष का कारण भौतिक सुख होता है। देश बँट जायगा तो हमारा लाभ होगा। कोई देश पर शासन करेगा। कोई गांव, घर या व्यापार पर। जिसकी जैसी हैसियत हों। किन्तु धर्म जड़े जहाँ जितनी गहरी हैं। वहाँ उसके साथ की क्रूरताएँ भी गहरी हैं। अगर ये क्रूरताएँ गहरी न होतीं तो सुखों की महत्वाकांक्षा को लोगों को बर्बाद करने में पूरी सफलता नहीं मिलती। सुखों की आकांक्षा स्वयम् बड़ी प्रेरणा कम बनती है। इनकी अपेक्षा धर्म प्रेरणा अधिक बलवती है महाभारत की दृष्टि ठीक है कि तब न राज्य था, न राजा। न दंड था न दांडिक। सभी लोग धर्म के द्वारा एक दूसरे की रक्षा करते थे।

(न वै राज्यं न राजाऽसीन्न दंड्मो न च दांडिक
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम्)

बाद में राज्य का विकास हुआ। राजा बनाया गया। दंड का विधान हुआ। कारण स्पष्ट है। धर्म की कमी। धर्म की कमी से एक ओर समाज विश्रृंखलित हुआ। दूसरी ओर कुछ नयी संस्थाओं का जन्म हुआ था। नयी संस्थाओं के विकास के बावजूद धर्म की आवश्यकता बनी रही। धर्म बना रहा। यह धर्म मनुष्य के मन में बनता बिगड़ता रहता है। जब वह बिल्कुल बिगड़ जाता है आदमी राक्षस बन जाता है। हत्यारा और खूनी हो जाता है। अंतर चेतना में रहने पर मनुष्य सामान्य व्यक्ति है। दुनियादार गृहस्थ है। संपूर्ण चेतना में आकर वह आदमी को सन्यासी, साधु और महात्मा बना देता है।

धर्म और राजनीति के जहाँ दो हिस्से हैं। वही ये एक ही शरीर के भीतरी और बाहरी रूप है। अर्ध नारीश्वर की तरह अपृथक हैं। एक बिना दूसरा बेकार हो जाता है। मूर्ति खण्डित हो जाती है। रूप झड़ जाता है। कुरूपता या क्रूरता आ जाती है। हमारे युग की सबसे बड़ी समस्या। है इनका समन्वय है मिलन। हरित और श्वेत क्रांति के नारे से अधिक महत्वपूर्ण है धर्म और राजनीति को जोड़नेवाली क्रांति। स्वस्थ जोड़ की क्रांति। योरप में नयी-नयी राजनीतिक और आर्थिक क्रांतियाँ हुई हैं। धार्मिक नहीं हुई। पिछले कुछ सौ सालों में योरप ने कोई धार्मिक क्रांति नहीं। बीटनिक, हिप्पी आदि उसी के परिणाम है। हमें अभी से चेतना होगा।

धर्म आदमी के हृदय को चौड़ा करता है। मन को स्वरूप और गहराई प्रदान करता है। यह बात राज्य द्वारा व्यवस्था और न्याय दोनों में देखी जा सकती है। कर वसूली का सिद्धान्त क्या हो? कर का उपयोग वर्गों और व्यक्तियों पर उचित ढंग से कैसे हो? न्याय का आधार क्या हो? आधुनिक राज्य अति जीवनोपयोगी वस्तुओं पर टैक्स बढ़ाता है दवा, भोजन वस्त्र। यहाँ तक कि कफन पर भी। पोषण तत्व चीनी का दाम रोज बढ़ता है। चुनाव आया और चीनी का भाव बढ़ा। वर्गव्यवस्था वाले राज्यों में ब्राह्मणों को विशेषाधिकार प्राप्त थे। इसके मुकाबले शूद्रों के अधिकार सीमित थे। औपनिवेशिक और तानाशाही के राज्यों में भी

यही होता है। सभ्यता और समद्धि के क्षेत्र में आगे बढ़े देशों में रंगीनों को बहुत से अधिकार नहीं प्राप्त हैं। लाखों यहूदियों की देशनिकाला, जेल, मौत, जैसी यातनाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि इन राज्यों का आधार धर्म नहीं शक्ति है। धर्म भी शक्ति हो सकती है। यह हृदय और ज्ञान की भीतरी शक्ति है। सामान्यतः शक्ति का अर्थ शरीर, हथियार और संगठन की शक्ति है। अल्पसंख्यकों के लिए जहाँ अनेक वादे और आरक्षा की बातें होती हैं उनका आधार भी धर्म की अपेक्षा भय और दंड अधिक है। सारे जनतंत्रों में विधानों के वावजूद करोड़ों रंगीन आज भी तबाह ।हैं घोर समृद्धि के पास रहकर भी वे नरक का जीवन बिताते हैं। धर्म के लिए उनका जीवव चुनौती है। राजनीति तर्क की भाषा में जवाब दे सकती है किन्तु धर्म अपने मानवी कर्त्तव्य को अस्वीकार नहीं कर सकता।

राज्य शास्त्र में जिन्हें अधिकार और कर्त्तव्य के नाम से जाना जाता है वे क्या हैं ? कर्त्तव्य धार्मिक मनोभाव है। समाज और देश के प्रति जिम्मेदारी मन की धार्मिक इच्छा से आती है। धार्मिक इच्छा हीन आदमी अपने काम के प्रति जिम्मेवार नहीं हो सकता। वह क्यों काम करे ? क्यों उत्तर और पवित्र आचरण करे ? पुरस्कार और दंड के अतिरिक्त धर्म महत्वपूर्ण है। कर्तव्य के साथ ही व्यक्ति के अधिकार बढ़ते हैं। यह मान्य सिद्धान्त हैं। इसका मतलब कि धर्मभाव व्यक्ति और समाज दोनों के लिए लाभकर है। कामचोरी, धोखाधड़ी, अनुशासनहीनता जैसी चोजों की उत्तम दवा धर्म भावना है। धर्म भावना वाले समाज में प्रशासन कम और कम होता है। धार्मिक व्यक्ति अनुशासनहीन कैसे होगा ? किंतु वह सभी असत्य अनुशासनों का विरोधी भी होगा।

राजनीति समाज को आकार देती है। सभ्यतायें गढ़ती है। धर्म समाज और सभ्यता को स्थायी रूप देता है। साहित्य, कला, दर्शन, चिन्तन को गहराई और विस्तार देने का काम धर्म का है। राजनीति का क्षेत्र मुख्य रूप से वर्तमान है। वर्तमान में जीना राजनीति की सामान्य इच्छा है। यहाँ नश्वरता का भय अधिक है। फलतः राजनीतिज्ञ के सभी कामों की कसौटी आज का हानि-लाभ है। पुराना इतिहास उसे ज्ञान दे सकता है—प्रेरणा नहीं। राजनीति का इतिहास वर्त्तमान को समाप्त कर बनता है। उसके भविष्य की कल्पना भी बहुत कुछ वर्तमान की छवि होती है। उसका चिन्तन बहुत कुछ देश-काल दोनों से बद्ध है। राजनीति का बड़ा से वड़ा विचार कदेशकाल से हटने पर असंबद्ध हो जाता है। इसके मुकाबले धर्म की सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता अधिक है। भूतकाल का धर्म भविष्य काल के धर्म से जुड़ा होता है। अगर उसमें कोई ढिलाई आती है तो वह है वर्तमान काल में। धर्म का व्यवहार आदमी को संयम सिखाता है। उसमें कुछ त्याग की जरुरत होती है। तपस्या रचनी होती है। राजनीति में वर्त्तमान की तेजस्विता होती है। वर्त्तमान के सुख और दुख दोनों उत्तेजक होते हैं। मनुष्य चञ्चल होता है। उसका गाण्डीव गिरने लगता है। वह कर्तव्यच्युत होता है। धर्म के अभाव में धर्म युद्ध से भागता है। सत्य की समझ, साक्षात्कार और उसे प्राप्ति का उत्साह धर्म और राजनीति के सम्मिलित प्रयास से होता है। राम ने धर्म की रक्षा के लिए धनुष तोड़ा था। गाण्डीव धारी अर्जुन तो धर्मराज के भाई हैं।

धर्म और राजनीति अलग हैं। एक हैं। अनेक हैं। इनकी एकता में अनेकता महत्वपूर्ण है।

सूक्तियाँ

रामनाम निर्वोधी बोलो, राधाकृष्ण बोली लो

—संत शिवनारायण

जो तुम तोरो राम मैं नहिं तोरूँ
तुम सों तोरि कवन सो जोरूँ—
रामा हो जगजीवन मोरा।
तू न बिसारी मैं जन तोरा

परिचै राम रमै जो कोई, या रस पर से दुविधि न होई —रैदास

संत वाणी के अध्ययन से राष्ट्र चारित्र्य को तो लाभ होगा ही, रसिकों की अभिरुचि को एक अच्छा बोध संतवाणी से मिलेगा यह लाभ भी कम नहीं है। —काका कालेलकर

तुलसी, कबीर, रैदास, दादू, मीरा, आदि जनकवि थे, उसी परंपरा में अनेक कवियों ने अपनी वाणी की देन से देश का हित किया और अब भी कर रहे हैं। —जगजीवनराम

एकतंत्र तानाशाही

भुजबल विश्व वश्य करि राखेसि कोई न स्वतंत्र
मंडलीक पति लंकपति, राज करै निजमंत्र
देव दक्ष गंधर्व नर, किन्नर नारि कुमारि
जीति बदी निज बाहुबल बहु सुंदर वर नारि
जपयोग विरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा
आपुन उठि धावै, रहै न पावै, धरि सब घालै खीसा
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा धर्म सुनियनहि काना
तेहि वहु विधि त्रासै देस निकासै जे कह वेद पुराना
वरनि न जाय अनीति घोर निसाचर जे करहिं
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवन मति —मानस

धर्म और राजनीति का आधुनिक रिश्ता ईसू मसीह के उस एक वाक्य से नियत होता है, कि भगवान का देय भगवान् को और सीजर को सीजर का देय। एक सीमा तक यह बेशक एक स्वस्थ मार्ग-दर्शन है, लेकिन इससे ऐसे विवादों का हल नहीं निकालता कि स्कूलें किसकी हों—सीजर की या भगवान् की। इसके अलावा उसको धर्मनिरपेक्ष दृष्टि कुछ अभावसूचक दृष्टि है। निःसन्देह किसी धर्म या संज्ञा के सम्बन्ध में आधुनिक राज्य को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए, लेकिन अब समय आ गया है कि धर्म को दीर्घकालीन राजनीति और राजनीति को अल्पकालीन धर्म माना जाए। —लोहिया

धर्म : राजनीतिक घटनाओं के संदर्भ में

परमेश्वरी दयाल

हाल ही में भारतीय उपमहाद्वीप में १४ दिवसीय युद्ध हुआ। इसे दो देशों, दो शक्तियों और दो सिद्धान्तों का युद्ध कहा गया। दो देश थे भारत और पाकिस्तान। दो शक्तियाँ थीं प्रजातंत्रवाद तथा सैनिकतंत्र की। और दो सिद्धान्त थे धर्म निरपेक्ष राजनीति तथा धर्म सापेक्ष राजनीति के। भारत में प्रजातंत्रवाद का आधार धर्म से अलग राजनीति और पाकिस्तान में सैनिकतंत्र का सहारा है धर्म से मिली राजनीति। इस प्रकार इस युद्ध में धर्म से मिली राजनीति वाले सैनिकतंत्र पाकिस्तान की पराजय हुयी और धर्म निर्पेक्ष राजनीति वाले प्रजातंत्रवादी देश भारत की विजय हुयी। इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा गया धर्म निर्पेक्ष राजनीति की धर्म सापेक्ष राजनीति पर विजय। किन्तु यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान की हार का कारण धर्म सापेक्ष राजनीति नहीं, बल्कि अन्य अनेक कारण थे। यह बात तर्क-संगत भी प्रतीत होती है क्योंकि प्रायः किसी बड़ी घटना का केवल एक ही कारण नहीं होता बल्कि अनेक कारण होते हैं। इसलिये अनेक ऐसे कारण थे जिन्होंने पाकिस्तान को कमजोर बना दिया और उसकी पराजय हुयी। अतः यह कहना तर्क संगत प्रतीत नहीं होता कि धर्म सापेक्ष राजनीति के धर्म निर्पेक्ष राजनीति के मुकाबले हार हुयी। यदि यह तर्क सही नहीं भी है और फिर भी यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो भी यह कहा जा सकता है कि धर्म सापेक्ष राजनीति वाले देश ने मानव मूल्यों का हनन किया और अपने ही धर्मावलम्बियों का नरसंहार किया। जबकि धर्म निर्पेक्ष राजनीति वाले देश ने मानव मूल्यों की रक्षा की और सभी धर्मावलम्बियों के प्राणों तथा सम्मान की प्रतिरक्षा कर जीवन प्रदान किया। इस तर्क को भी यदि स्वीकार कर लिया जाये तो भी यह कहा जा सकता है कि एक घटना के आधार पर यह निषकर्ष नहीं निकाला जा सकता कि धर्म सापेक्ष राजनीति की अपेक्षा धर्म निर्पेक्ष राजनीति अच्छी होती है। दूसरी बात यह भी है कि वास्तव में पाकिस्तान की राजनीति ने धर्म की अपेक्षा आर्थिक हितों को अधिक महत्व दिया। पश्चिमी पाकिस्तान ने बंगला देश में जो कुछ किया वह सब आर्थिक हितों के साधनों के लिए ही किया। आधुनिक युग में राज-नीति धर्म पर नहीं बल्कि अर्थ पर आधारित है और पिछले दोनों विश्व युद्ध भी आर्थिक हितों के लिये ही लड़े गये थे। ऐसा ही युद्ध पाकिस्तान ने भी बंगला देश में लड़ा। अंग्रेजों ने भी आर्थिक हितों के लिये ही दो सौ वर्षों तक भारत पर शासन किया जिसे गांधी जी ने स्पष्ट देखा और इसी आधार पर अपनी संघर्ष नीति अपनाई। इस प्रकार यह सिद्ध नहीं होता कि पाकिस्तान की हार धर्म सापेक्ष राजनीतिक की हार है।

अब देखें कि इतिहास इस सम्बन्ध में क्या कहता है। मध्य काल में यूरोप में अनेक ईसाई और एशिया में मुस्लिम राज्य स्थापित हुए। उस समय धर्म के नाम पर इतने युद्ध हुए

कि उससे उस काल का इतिहास भरा पड़ा है। धर्म के नाम पर उन राज्यों ने क्या-क्या अत्याचार नहीं किये। किन्तु यदि उस काल के इतिहास की विश्लेषणात्मक समीक्षा की जाये तो यह स्पष्ट होता है कि उस समय धर्म और राजनीति में न तो तारतम्य ही स्थापित किया गया था और न राजनीति को धर्म का आधार ही दिया गया था। वास्तव में, उस समय राजनीतिक सत्ता का धर्म प्रचार के माध्यम के रूप में प्रयोग किया गया। प्रत्येक धर्म सत्य, मानव प्रेम, सामाजिक न्याय, किसी से घृणा न करने आदि की शिक्षा देता है किन्तु उसके अवलम्बियों ने शायद ही कभी उन शिक्षाओं को अपने व्यावहारिक जीवन में पालन किया और इस प्रकार सदैव ही धर्म के सिद्धान्तों तथा धर्म अवलम्बियों के दैनिक व्यवहार में बड़ा विरोधाभास रहा है। इस प्रकार यह सहज ही कहा जा सकता है कि उस काल में धर्म के नाम पर राजनीति का दुरुपयोग किया गया तो इसका यह अर्थ नहीं कि धर्म और राजनीति के मिलाने के कारण युद्ध हुये।

यदि कुछ और दूर तथा समीप के इतिहास पर दृष्टि डाली जाये तो हमें दो स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं जब धर्म को राजनीतिका आधार बनाया गया और दोनों ही प्रयोग बड़े सफल प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल में अशोक मूलतः राजा था और उसको अनुभव हुआ कि उसकी नीतियाँ दोषपूर्ण हैं तो उसने बौद्ध धर्म को अपनी नीतियों का आधार बनाया। इसका परिणाम हुआ कि वह न केवल अपने देश में ही बल्कि दूर दराज के देशों में भी शान्ति स्थापित करने में सफल हुआ और आज तक इतिहास उसे अशोक महान के नाम से याद करता है।

आधुनिक काल में महात्मा गांधी ने स्पष्ट शब्दों में यह कहने का साहस किया—"मैं राजनीति को धर्म से अलग नहीं करता। धर्म तभी सच्चा बन सकता है जब वह हमारे जीवन के सभी कार्यों में समाविष्ट हो और वह कार्य जिसे करने के लिए धर्म का त्याग करना पड़े अनैतिक कार्य है जिसे त्यागने का हर मूल्य पर प्रयत्न किया जाना चाहिये। राजनीति ऐसा ही कार्य है जिसे करने के लिए यदि धर्म का त्याग करना पड़े तो हमें उस राजनीति का ही त्याग कर देना चाहिये।" गांधी जी ने धर्म का एक सम्प्रदाय विशेष के रूप में प्रयोग नहीं किया। उन्होंने धर्म का अर्थ बहुत व्यापक रूप से किया है। उनके लिए धर्म मोक्ष पाने का तरीका नहीं है बल्कि आध्यात्मिक जीवन की पद्धति है। उनके लिए धर्म तथा आचार-शास्त्र (इथिक्स) में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने धर्म को अंग्रेजीके 'रिलीजन' शब्द के अर्थ में प्रयोग न करके भारतीय शब्द धर्म के अर्थ में समझा है। दोनों शब्दों के अर्थ समान नहीं हैं। धर्म शब्द के दो पहलू हैं—पारमार्थिक धर्म तथा व्यावहारिक धर्म अथवा धर्म संस्कार। पहले से तात्पर्य पूजा-पाठ के तरीके, आत्मापरमात्मा आदि से सम्बन्धित विश्वासों, सिद्धान्तों, प्रथाओं आदि से है जो अंग्रेजी शब्द 'रिलीजन' के समीप है। दूसरे से तात्पर्य आदर्श व्यवहार के नियमों, कर्तव्यों आदि से है। इसे नीतिशास्त्र (इथिक्स) कहा जा सकता है। धर्म का पहला अंग बहुत कुछ व्यक्तिगत है और दूसरा सामूहिक। गांधी जी ने धर्म के दूसरे अंग को ही विशेष महत्व दिया है। विनोबा जी ने और भी स्पष्ट शब्दों में कहा कि धर्म तथा राजनीति में विज्ञान तथा आध्यात्मवाद के समाविष्ट करना चाहिये। धर्म तथा राजनीति में एकत्व तभी स्थापित हो सकता है जब विज्ञान में अध्यात्मवाद और धर्म में विज्ञान और राजनीति में विज्ञान तथा अध्यात्मवाद को समाविष्ट करके सबमें समन्वय स्थापित किया जा सके।

संक्षेप में कह सकते हैं कि मध्य युग में राजनीतिक को धर्म प्रचार का और आधुनिक युग में आर्थिक हित साधन का माध्यम बनाया गया और दोनों ही दिशाओं में युद्ध, नरसंहार तथा अशान्ति मानवता के हाथ लगे। किन्तु यदि धर्म की उसके व्यापक अर्थ में राजनीतिक आधार बनाया जाये तो मानव प्रगति तथा विश्व शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है जब धर्म तथा राजनीति में वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि-कोणों को समाविष्ट किया जाये और साथ ही धर्म अनुयायियों के धर्म के नीति सिद्धान्तों के बीच के भेद को समाप्त कर दिया जाये।

•

धर्म और राजनीति : बुनियादी प्रश्न

प्रमोद कुमार गुप्त

धर्म और राजनीति के बारे में कुछ कहने या सोचने के साथ ही कई सवाल एक साथ उठ खड़े होते हैं। धर्म राजनीति का रिश्ता क्या है ? धर्म का अर्थ ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड या संकीर्ण सम्प्रदायवाद है अथवा बड़े मानवीय मूल्य। राजनीति का अर्थ केवल सत्ता प्राप्त करना हैं, एम०एल० ए०, मंत्री, प्रधानमंत्री बनाना है, कोटा परमिट की सरकार बनाना है या मानवीय दुख दर्द, अन्याय असमानता के उन्मूलन की प्रक्रिया है ? या शुद्ध व्यवस्था करके साधारण की प्रतिष्ठा करना है। इन सवालों के साथ एक सवाल और जुड़ जाता है कि इस पुराने देश ने अपने पुराने साहित्य और पुराण में इन प्रश्नों को अपने जमाने में कहाँ तक हल किया है ? वे मूल्य आज के संदर्भ में कितने उपयोगी अथवा अनुपयोगी रह गये ?

यों तो सवालों का सिलसिला खत्म नहीं होता, फिर भी इन्हें कहीं रोकना होगा। इन सारे सवालों को बैठाने के पहले एक सम्पूर्णता को बांधने की बड़ी चेष्टा वाली तस्वीर को सामने रख लेना समीचीन होगा। वह तस्वीर है श्रीमद्भागवत पुराण में पुराण-पुरुष की तस्वीर। जो अपने में एक बड़े असम्भव को बाँधने की चेष्टा है। अव्यक्त को मूर्त करने का विनम्र अहं है। सपना और हकीकत का सुन्दर समन्वय है। वह पुराण-पुरुष कुछ न करते हुए सब कुछ करता है। उसका नेत्र अन्तरिक्ष है। देखने की शक्ति सूर्य है। दोनों पलकें विभाजित काल, दिन-रात हैं। कर्ण दिशायें, ऊपर के होठ लाज, नीचे का लोभ। उसकी मुस्कान ही जगत मोहिनी माया है। जिह्वा रस, मुख अग्नि, भुजायें इन्द्र हैं। चित्त में धर्म और वक्ष में लक्ष्मी का निवास है। अधोभाग काम प्रदेश है। चरण संचरण है। चलते रहना ही उसका कर्म है और उस पुराण-पुरुष की पीठ अधर्म, पराजय और मोह है।

बड़ी काव्यमयी और रहस्यमयी यह छवि दिखाई देती है। जगत का अधिष्ठाता कर्म के साथ-साथ अधर्म भी अपनी पीठपर ढ़ो रहा है। एक अन्तर विरोध सा लगता है। पर यही अन्तर विरोध ही तो उसकी माया है। भारतीय चिंतको ने जगत को काफी यथार्थवादी दृष्टि-कोण से देखा है। माया-ब्रह्म, सद्-असद् के बीच मनुष्य जीता है। शुभ और अशुभ दोनों से द्वंद्व को ही सृष्टि कहा गया है। द्वंद्व के बीच गुजरते रह कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार चक्रीय क्रियाओं से पार करना ही जगत की क्लिष्टता को पार करना है। वस्तुतः जो केवल शुभ ही देखता है, वह सम्पूर्ण को नहीं देख पाता। उसी तरह केवल अशुभ को देखता है वह भी उसकी पीठ ही देख पाता है, परन्तु जो सम्यक् दृष्टि से विराट को उसकी सम्पूर्णता के साथ देखता है, वह धर्म-अधर्म दोनों को देखता है। शुभ और अशुभ को सम्यक दृष्टि से देखकर त्याग और ग्रहण की नीति अपनाने वाला ही इस जगत की क्लिष्टता को पारकर पाता है।

पुराण-पुरुष के चित्त में कर्म है और वक्ष में लक्ष्मी अर्थात् अर्थ का निवास है। यह बड़ा ही गहरा और अर्थवान रूपक है। वक्ष तो मनुष्य का ऊपरी हिस्सा है लेकिन चित्त उसका गहरा और महत्वपूर्ण भाग है। चित्त अर्थात् धर्म से लक्ष्मी को मर्यादित करना। यहाँ अर्थ या अर्थशास्त्र का तात्पर्य राजनीति, को साथ देखने की परम्परा है। इसलिये धर्म पहले, बाद में अर्थ है। अर्थात् राजनीति का दूसरा नम्बर आता है। राजनीति को मर्यादित करने के लिये धर्म और धर्म को सगुण करने के लिये राजनीति इन दोनों के संतुलित द्वन्द्व से ही समाज और व्यक्ति का स्वस्थ विकास हो पायेगा।

हमारे यहाँ मूल प्रश्नों को बड़े गहरे ढंग से सोचा गया है। पर वहीं हालहाल के दुःख दर्दों के प्रति एक हद तक उदासीनता भी दिखायी गयी है। सगुण और निर्गुण का फर्क हमारे यहाँ काफी मिलता है। निर्गुण में जहाँ प्राणीमात्र की समता की बात कही गयी है वहीं सगुण में आदमी-आदमी में फर्क का एक लम्बा सिलसिला भी जातिवाद में स्पष्ट है। शिक्षा, ज्ञान, शक्ति, शासन और व्यापार में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का एकाधिकार माना गया है, जो एक प्रकार से चल रहा है। शूद्र, केवल शोषण, गुलामी और अंधकार के बीच रहने वाले लोग हैं, अभी भी जिनकी छाया मात्र से पाप का भागी समझा जाता है। ब्राह्मणवादी दिमाग का यही बेमेलपन आज भी राजनीति और धर्म में परिलक्षित होता रहता है।

जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह, दुःख, ताप जैसे मूल प्रश्नों को विस्तार से सोचा और लिया गया, वहीं, दूसरी ओर सामाजिक गैरबराबरी, शोषण, साधारण की प्रतिष्ठा के बारे में कोई समुचित पथ या मार्ग के बारे में सोचा नहीं गया।

असल में धर्म के तो चार पैर थे। वे पैर तप, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति हैं। पर जब केवल धर्म का एकही पैर, भक्ति रह गयी है, तीन पैर तो ब्राह्मणों के क्षुद्र स्वार्थ, लोभ के कारण टूट गये। ज्ञान शिक्षा के अधिकारी वे स्वयं बने। राजकाज क्षत्रियों को दिया। धन वैश्य को और गुलामी और सेवा शूद्रों को। ब्राह्मणों का काम तो केवल ज्ञान देना या आशीर्वाद देना रह गया। धन, राजकीय प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर आशीर्वाद नहीं मिलने पर श्राप देना। दान लेना, भीख लेना उनका जन्मसिद्ध अधिकार है, लेकिन देश और समाज के लिये त्याग करना ब्राह्मणवादी दिमाग का काम नहीं। राजा और बनिया से उनकी खूब निभती है। पर साधारणजन चमार, पासी, गरीब उनके घृणा के पात्र है। ब्राह्मणवादी दिमाग गरीब और शूद्र को धनी, राजा और स्वयं अपनी सेवा और भक्ति का मंत्र भर देना अपना कर्तव्य मानता है। कहा जाता है कलिकाल में धर्म एक ही पैर पर खड़ा है और वह पैर है भक्ति। असल में कलियुग कोई एक निश्चित काल नहीं है। वह कम बेश हर काल में रहता है और शायद एक हद तक आगे भी रहेगा।

एक पैर वाला धर्म लूला, अपंग, वीर्यहीन होकर संसद या राजसभाओं के बाहर सड़कों पर सिसक रहा हैं, देश में अगर सत्य की राजनीति को प्रतिष्ठित करनी होगी तो उसे उसके तीन पैर-तप, ज्ञान, वैराग्य लौटाने ही होंगे। साथही तीन नये पैर समता, स्वतंत्रता, सत्याग्रह या प्रतिकार हैं। तभी यह सात पदों वाला धर्म देश की राजनीति और समाज को तेज-

स्वी, वीर्यवान और मूल्योंवाला बना पायेगा।

तप से साधना, परिश्रम अपने कार्य के प्रति ईमानदारी का बोध है। ज्ञान से सत्-असत् का निर्णय करना है। वैराग्य से अपरिग्रह करना तथा लोभ और मोह पर विजय प्राप्त करना है। भक्ति देश तथा मूल्यों के प्रति आस्था देने वाली होगी। समता जनसाधारण की प्रतिष्ठा और शोषण रहित समाज बनाने वाली होगी। स्वतंत्रता गुलामी का नाश कर व्यक्ति और समाज की महिमा को प्रतिष्ठित करेगी। सत्याग्रह, अन्याय, जुल्मों का प्रतिकार करेगा। तभी यह सात पदों वाला धर्म वीर्यवान होकर राजनीति को मूल्यवान बनायेगा।

राजनीति की दो बाहें हैं। एक केवल सत्तावाली राजनीति की। दूसरी परिवर्तनवाली राजनीति की। केवल सत्तावाली राजनीति शोषण, दमन, प्रमाद और भोग की ओर ले जाती है। मूलतः यह राजावाली राजनीति है। राजा का कोई धर्म नहीं होता और न कोई आत्मा, वरन् उसका स्वभाव होता है जैसे पानी का स्वभाव है ऊपर से नीचे की ओर जाना। अतः राजा का धर्म कोई नहीं। लेकिन प्रतिपक्ष का स्वभाव भोग नहीं, धर्म होता है। धर्म सहज से असहज की ओर ले जाने वाला होता है। सहज तो भोग-विलास, प्रमाद, संग्रह और हिंसा है। सत्य, न्याय, सम्यक्ज्ञान, अपरिग्रह, समानता और न्याय का प्रतिकार का मार्ग कठिन है। राजा या राजपुरुष सहज प्रवृत्ति वाला होता है। जिसका अपनी सत्ता के प्रति अटूट मोह रहता है उसके लिये वह प्रायः उचित अनुचित सब कुछ करता है।

दूसरी राजनीति प्रतिपक्ष की होती है। जो शासन में तो नहीं रहता वरन अपने बड़े मूल्य के लिए राजा पर भाषण, लेखनी, सत्याग्रह के द्वारा उसे धर्म की ओर झुकाता रहता है और राजा प्रतिपक्ष के भय से ही धर्मोमुखी होता है। यदि प्रतिपक्ष शिथिल, कमजोर हुआ तो राजा या सत्ताधारी पार्टी स्वेच्छाचारी निरंकुश और प्रमादी हो जाती है। फिर कलि के पांव जमने लगते हैं और क्रमशः धर्म का एक ही पैर रह जाता है। और राजनीति बैमानी, झूठ, हत्या, मक्कारी के रूप में प्रकट होने लगती है। पदों के लिये राजपुरुष आपस में कुत्तों की तरह लड़ने लगते हैं। सिद्धान्तहीनता इतनी बढ़ जाती है कि मंत्री या प्रधान मन्त्री बनने के लिए दल-बदल का सिलसिला शुरू हो जाता है। सिद्धान्तहीनता को आत्मा की पुकार कहा जाने लगता है।

प्रतिपक्ष का अर्थ यहाँ केवल विरोधी दल मात्र से ही नहीं है, वरन् एक विरोध के, अस्वीकार के दर्शन के बीच व्यवहार और प्रतिक्रिया करने वाले से है। सरकार और प्रतिपक्ष के रिश्ते के बारे में है। मूलतः दुनिया भर की सरकारें कमोवेश यथास्थितिवादी होती हैं। नये या बड़े परिवर्तन के जोखिम से बचते रहने का उनका स्वभाव होता है। पर प्रतिपक्ष का दर्शन, आगे देखू तथा वर्तमान से सदा असंतुष्ट वाला होता है। वह वर्तमान पर खड़ा होकर नयी सम्भावनाओं और नये विकल्पों के लिए यथास्थितियों को अस्वीकारता हुआ सरकार या सत्ताधारी दलों को अपने तर्क, आन्दोलन, लेख इत्यादि से हिलाता रहता है। तथा उन्हें कुछ आगे देखने के लिए मजबूर करता है। साथ ही वर्तमान की सही उपलब्धियों को नापता जोखता रहता है। सरकार और प्रतिपक्ष के द्वन्द्व से लोकतन्त्र सजीव और प्राण-वान हो जाता है।

अगर विरोधी दल अपनी प्रतिपक्ष की भूमिका अदा नहीं करता तो वह विरोधी दल मात्र रह जाता है। प्रतिपक्ष के दर्शन वाला नहीं। जैसे बिना प्राण के शरीर। अक्सर देखा भी जाता है कुछ विरोधी दल सरकार से भी ज्यादा यथास्थितिवादी होता है। ऐसा नकली विरोधी दल सरकार में न रहकर ही सरकार जैसे कार्यों और स्वभाव का सहयोगी होता है। सरकार भी छिपे-छिपे कभा खुलकर ऐसे विरोधी दलों के निर्माण में काफी सहयोग देती है। ताकि उनका राज-काज, ठाट-वाट, और भोग-विलास बना रहा है। और वे असली और मूल्यों के बीच रहने वाले प्रतिपक्ष को कमजोर कर अन्याय को सत्य, त्याग की परिभाषा देकर एक झूठ का मायाजाल बनाने की चेष्टा करती रहें।

कभी-कभी ऐसा भी समय आता है जब कि असली प्रतिपक्ष नकली, गलत-सा दिखने लगता हैं। सरकारें, अपने प्रचुर साधनों का उपयोग कर उनकी आवाज, अखबारों, रेडियो तथा झूठे प्रचारों से कुंठित करने लगती है और पूरा का पूरा देश कुछ काल के लिए दिक्-भ्रान्त सा हो जाता है।

पर माया तो माया ही है। कहते हैं माया शक्ति कुछ देर हो रुक पाती है। राक्षसी शक्ति रात के अन्धेरे में ही बलवान होती है पर दिन का ताप उन्हें छिन्न-भिन्न कर देता है। सब ले देकर बात फिर तप, त्याग, सत्याग्रह, और निरन्तर सहकर्म करते रहने की आती है।

इसमें कई आयामों में एक आयाम और भी है। वह है जनता।

सरकार और प्रतिपक्ष दोनों ही कमोवेश राज-पुरुषों की विरादरी में ही आते हैं। जो एक दूसरे क्रिया की प्रतिक्रिया के बीच चलते हैं। पर इनके अलावा सम्पूर्ण, दुःख, ताप को भोगने वाली जनता होती है।

जब सत्य से झूठ बड़ा हो जाये मूर्ख और लंपट विद्वान और सन्त कहे जाने लगें कायर और नपुंसक को वीर कहा जाने लगे तभी कलि बलवान हो उठता है। कलि में धर्म की स्थापना कठिन है। लेकिन इसके बिना गति नहीं है।

राजनीति का आजकल बड़ा महत्व हो गया है। इसे धर्म से युक्त बनाना आवश्यक है। धर्महीन राजनीति भयावह है पुराण-पुरुष की पीठ है, अधर्म है। धर्म और प्रतिपक्ष की राजनीति पर और गहराई से सोच-विचार जरूरी है। यहाँ इस सोच के लिये कुछ संकेत मात्र किया है। इससे आपको सोचने का उत्स मिले तो इस पर्चे की सार्थकता है।

●

धर्म और राजनीति

संगमलाल पाण्डेय

१. अभेद-सम्बन्ध

धर्म और राजनीति, इन दोनों के अनेक अर्थ हैं। यहाँ उन सभी अर्थों का संकलन हमारा उद्देश्य नहीं है। किन्तु हम यहाँ कहना चाहते हैं कि इन दोनों शब्दों का मूल अर्थ एक ही है। एक अर्थ है जिसके अनुसार धर्म और राजनीति में अभेद-सम्बम्ध है और दोनों का विषय क्षेत्र एक ही है। यह अर्थ क्या है ?

एक कर्म है जिससे सभी मनुष्य एक सूत्र में बँधे रहते हैं, सभी मनुष्यों की रक्षा होती है और सभी मनुष्यों का प्रायः हर सम्भव कल्याण होता है। इस कर्म को भारत में धर्म कहा गया और यूनान में इसे राजनीति कहा गया। भारत में धर्म को मनुष्य का लक्षण माना गया है।[1] इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि मनुष्य एक धार्मिक पशु है। इसी प्रकार यूनान में अरिस्टॉटिल ने राजनीति को मनुष्य का लक्षण बताते हुये कहा कि मनुष्य •प्रकृत्या एक राजनीतिक पशु है।[2] अपनी परिभाषा की व्याख्या करते हुए अरिस्टॉटिल कहते हैं कि केवल मनुष्य में ही अच्छे और बुरे का, न्याय और अन्याय का, विवेक और जिन जीवों में ऐसा विवेक है वे कुटुम्ब और राज्य का निर्माण करते हैं।[3] अरिस्टॉटिल की यह व्याख्या धर्म-लक्षण वाले मनुष्यों की उपर्युक्त भारतीय परिभाषा का भाष्य है। अतः इन दोनों परि-भाषाओं का मूलमन्तव्य एक ही हैं। अरिस्टॉटिल के अनुसार राजनीति का लक्ष्य मानवता का सर्वोच्च कल्याण है और वह जितना मानव-कल्याण करती है उतना वह अन्य विषय या कर्म नहीं करता है।[4] ठीक यही बात धर्म के बारे में कही गयी है। कणाद का कहना है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है वह धर्म है।[5]

धर्म प्रजा का धारण करता है। धारण करने से वह धर्म कहा जाता हैं। धारण कर्म से जो संयुक्त है वह धर्म है।[6] इस धर्म के मुख्य विषय दण्ड, न्याय और कर्तव्य हैं। इसी प्रकार प्लेटो और अरिस्टॉटिल के अनुसार राजनीति का मुख्य विषय न्याय है और न्याय से

---

१. आहारनिद्रा भय मैथुनं च सामान्मेतत् पशुभिः नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः।।

२. अरिस्टॉटिल, पॉलिटिका, १२५३ ए २

३. वही. १२५३ य, १५, १६, १७।

४. वही, पृष्ठ १२५१ ए ५, १३८५ बी १५, १६।

५. यतोभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक सूत्र १।२

६. धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्माद् धारणसंयुक्तं स च धर्म इति निश्चयः। महाभारत, कर्णपर्व ६६।५८

ही कर्तव्य तथा दण्ड के विधान निष्पन्न होते हैं। धर्म भी राजधर्म, कुलधर्म और दंडव्यवस्था का विधान करता है। इस प्रकार भारत में धर्म और यूनान में राजनीति समानार्थक और समान-विषयक हैं। प्रत्येक अपने देश में सर्वोपरि विद्या है, प्रत्येक आदर्श मानव, आदर्श परिवार और आदर्श राज्य का विधान करता है। भारत में धर्म का ज्ञान रखने वालों को राजनीतिज्ञ या नियमदाता (लॉगिवर) कहा गया है। पुनश्च, सम्पूर्ण धर्म को कार्यान्वित कराने वाले व्यक्ति को भारत में राजन्य या राजा कहा गया है और यूनान में उसे स्टेट्समैन या राजा कहा गया है। राजन्य और धर्मशास्त्रकार का भेद यूनान और भारत दोनों देशों में रहा है। इस भेद का आधार दोनों के कर्म के भेद का आधार है जो कालान्तर में धार्मिक कर्म तथा राजनीतिक कर्म का भेद हो जाता है। इस भेद के दोनों देशों में दूर करने का प्रयास किया गया है। भारत में मनु जैसे धर्मशास्त्रकार और राजा का महत्त्व दिया गया है तथा प्लेटो ने फिलॉसफरकिंग अर्थात् दार्शनिक-राजा का आदर्श अच्छे ढंग से चित्रित किया है। किन्तु दोनों देशों में ऐसा आदर्श यथार्थ कम हुआ है या बिल्कुल नहीं हुआ है। इसके फलस्वरूप धर्मशास्त्रकार और राजा के भेद से धीरे धीरे राजनीति का ऐसा अर्थ प्रकट होता है जिसमें वह धर्म से भिन्न मानी जाने लगती है। यह भेद शक्ति के आविर्भाव से बढ़ता है और धर्म तथा राजनीतिक के अभेद को इस प्रकार चोट पहुँचाती है और राजनीति का धर्म से अलगाव बढ़ने लगता है। शक्ति या सत्ता धर्म और राजनीति को एक दूसरे से पृथक् कर देती हैं।

२. राजनीतिका उद्भव और विकास

धर्मशास्त्र का कर्म और राजा के कर्म में भेद हो जाने से राज्य-सम्बन्धी नियमों की अन्य नियमों से पृथक् करने की कोशिश की गयी। इस प्रयत्न से यह निश्चित हुआ कि जिन नियमों से जनता का धारण होता है उनमें से कुछ ही नियम राज्यसम्बन्धी नियम हैं और इन नियमों को पृथक् करके राजनीतिशास्त्र को सामान्य नियमों से अर्थात् धर्म से अलग किया गया। प्लेटो और अरिस्टॉटिल के युग में ही यह अलगाव हो गया था। उन्होंने राजनीतिशास्त्र को जन्म दिये, किन्तु उन्होंने राजनीति के इस पृथक्-करण को उतना स्पष्ट नहीं किया है जितना भारत में कौटिल्य ने किया है। कौटिल्य के पूर्व राजनीति और धर्म का भारत में अभेद था। किन्तु उन्होंने राजनीति को धर्म से पृथक् करके अर्थशास्त्र के अन्तर्गत रखा। मूल रूप से उसने ही सबसे पहले यह सिद्धान्त दिया कि राजनीति का मुख्य विषय अर्थ है, न कि धर्म। पश्चिम में राजनीति का अर्थ से इतना गाढ़ा सम्बन्ध केवल आधुनिक युग में विकसित हुआ है जब एडम स्मिथ, मार्क्स और केन्स ने राजनीति को पूर्णतया सार्वजनिक अर्थशास्त्र बना दिया है। भारत में धर्म और अर्थ दो विभिन्न पुरुषार्थ माने गये हैं। ऐसा अलगाव पश्चिम में बहुत बाद में हुआ है। किन्तु वहाँ भी अरिस्टॉटिल ने इथिका (नीतिशास्त्र) और पॉलिटिक्स में भेद किया है। और उसके विवेचन से होता है कि उसने इथिक्स में वही सम्बन्ध स्थापित किया है जो महाभारत के शब्दों में अर्थ और धर्म इन दो पुरुषार्थों अथवा इनकी प्राप्ति के उपायों में हैं। कुछ भी हो, धर्म और राजनीति का आदिम युगीन अभेद अत्यन्त अस्थिर रहा और इस आरम्भिक अवस्था के बाद राजनीति और धर्म का भेद, द्वन्द्व और संघर्ष आरम्भ हुआ। भारत के इतिहास में इस संघर्ष की कहानी, ब्राह्मण

और क्षत्रिय के संघर्ष की कहानी है और पश्चिम में इस संघर्ष की कहानी राजनीति-शास्त्र-कारों तथा राजाओं के संघर्ष से लेकर मसीही नेताओं और राजाओं के संघर्ष की कहानी है। मोटे तौर से इस संघर्ष का मुख्य विषय परमेश्वर और लोकेश्वर की महानता है या परमेश्वर के नियम और लोकेश्वर के नियम में कौन अधिक महान् या बलवान् है, यह उक्त संघर्ष का मुख्य विषय है।

इस संघर्ष के कारण धीरे-धीरे राजनीति का विकास हुआ। इस विकास को हम छः सोपानों में व्यक्त कर सकते हैं—

१. राजनीति की वह अवस्था जिसमें वह धर्म से अभिन्न थी।
२. राजनीति की उत्पत्ति और धर्म के अनुशासन में उसका रहना।
३. राजनीति और धर्म का द्वन्द्व।
४. धर्म से राजनीति की पूर्ण स्वतंत्रता। धर्म-निरपेक्ष राजनीति का जन्म और अस्तित्व।
५. धर्म पर राजनीति का प्रशासन। जैसे पहले राजनीति धर्मानुशासित थी वैसे इस अवस्था में धर्म राजनीति से अनुशासित हो गया।
६. एक मात्र राजनीतिक अवस्था तथा धर्म का उन्मूलन।

राजनीति की आरम्भिक अवस्था को हम धार्मिक अद्वयवाद कह सकते हैं। उससे जब राजनीति पृथक रूप से प्रकट हुई तो वह धर्म के अनुशासन में रही। ईश्वर और ईश्वर का अनुशासन राजा और उसके अनुशासन के कीर्तिमान तथा प्रेरणा-स्रोत रहे। धर्मातीत राजनीति की इस अवस्था में धर्म और राजनीति में संघर्ष नहीं था, किन्तु कालान्तर में धर्म व्यापकता, नित्यता और मानवता का दृष्टिकोण लेने लगा और राजनीति, जाति, क्षण तथा देश का दृष्टिकोण लेने लगी। राजनीति का सम्बन्ध जीवन से हो गया और धर्म का सम्बन्ध आदर्श जीवन या जीवन-सिद्धान्त से हो गया। धर्म लोक और लोकान्तर दोनों के कल्याण का विचार करता था और राजनीति केवल लोक-कल्याण का अनुसंधान करती थी। धर्म मानव को मूलतः आध्यात्मिक प्राणी मानता था और राजनीति उसको मूलतः लौकिक या सामाजिक प्राणी मानती थी। इन मान्यताओं से धर्म और राजनीति के द्वन्द्व बढ़ते गये और धीरे-धीरे राजनीति ने अपने को धर्म से पूर्ण-स्वतंत्र कर लिया। पूर्ण स्वतंत्रता हो जाने पर राजनीति ने धर्म के ऊपर अपना अनुशासन स्थापित किया और यह दावा किया कि ईश्वर की कल्पना राजा के आधार पर की गयी है तथा ईश्वरीय अनुशासन की कल्पना अच्छे राज्य के आधार पर की गयी है। इस प्रकार वहाँ पहले राजनीति धर्माधीन थी या धर्म का साधन थी वहाँ अब स्वयं धर्म ही राजनीति के अधीन हो गया, राजनीति साध्य हो गयी और धर्म उसका साधन बन गया। धर्म राजनीतिक का एक देश हो गया। पहले राजनीति धर्म का एक देश थी और धर्म में राजनीति के स्थान का विधान किया गया था और अब राजनीति में धर्म का विधान सोचा जाने लगा। यही नहीं, राजनीतिक प्रगति और धार्मिक अवनीति के अग्रिम चरण ने धर्म के उन्मूलन की स्थिति को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप राजनीति ही सर्वस्व हो गयी। इस सोपान पर कहा जाने लगा कि धर्म एक नशा है, एक वंचना है या

एक धोखा है जिसका परित्याग करना आवश्यक है। इस स्थिति को हम राजनीतिक अद्वय-द कह सकते हैं।

धार्मिक अद्वयवाद से लेकर राजनीतिक अद्वयवाद तक धर्म का पतन तथा राजनीति का उत्थान हुआ है। इस प्रकार एक दौर समाप्त हुआ है। इस समय सम्पूर्ण विश्व में राजनीतिक अद्वयवाद की ही स्थिति किसी न किसी रूप में चल रही है। किन्तु धर्मगति या राजनीति-गति की कोई अवस्था ऐसी नहीं होती है जो अपनी पूर्वावस्था से सम्पृक्त न हो और अपनी अग्रिम अवस्था की ओर उद्वेलित न हो। इसकी प्रत्येक अवस्था एक कार्य और एक कारण है, एक उपलब्धि और एक सम्भावना है। एक ओर वह पिछली अवस्था का परिणाम है और दूसरी ओर वह किसी अन्य अवस्था का जनक भी है। अतएव वर्तमान राजनीतिक अद्वयवाद निश्चय ही कुछ सम्भावनाओं से भरपूर हैं। किन्तु इन सम्भावनाओं का विचार करने के पूर्व हमें धर्म की एक और गति का विचार करना आवश्यक है। उसका विचार करने के पूर्व हम धर्म तथा राजनीति की उपर्युक्त गति से धर्म और राजनीति के जो सम्बन्ध निखरे हैं उनका उल्लेख करना अपने विषय के प्रतिपादन के लिये सुविधाजनक समझते हैं।

इस गति से स्पष्ट है कि राजनीति के उद्भव और विकास का दूसरा पक्ष धर्म का ह्रास और पतन है। ज्यों-ज्यों राजनीति सशक्त और स्वतंत्र होती है त्यों-त्यों धर्म दुर्वल, परतंत्र और प्रभावशून्य होता है। अभाव के दृष्टिकोण से कहा जा सकता है कि धार्मिक अद्वयवाद राजनीति का प्राग्भाव है। धर्मानुकूल राजनीति की अवस्था धर्म और राजनीति अन्योन्याभाव है जिसमें एक दूसरे की अपेक्षा भी सन्निहित है। फिर राजनीतिक और धर्म के द्वन्द्व की अवस्था धर्म में राजनीति का और राजनीति में धर्म का अत्यन्ताभाव है। इसके बाद राजनीति की अपनी स्वतंत्र गतिविधि वेग से आरम्भ होती है। जिसमें धर्म का क्रमशः प्रध्वंसाभाव हो जाता है और राजनीति सर्वप्रकाशक और स्वप्रकाशक हो जाती है। किन्तु यहाँ जिस धर्म का ध्वंस होता है वह लोक धर्म का एक विशेष रूप है अथवा वह धर्म है जिसका अर्थ और विषय राजनीति के अर्थ और विषय से अभिन्न है।

३. धर्म की लोकत्तर गति

राजनीति की जिस गति का वर्णन ऊपर किया गया है वह धर्म की लौकिक गति है। इसमें धर्म का उत्थान-पतन होता रहता है। उत्थान के बाद पतन और पतन के बाद उत्थान होता रहता है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी धर्म की एक गति है जो धर्म के महत्त्व को एक दूसरी दिशा में स्थापित कर देती है। राजनीति के उत्थान और वैभव को देखकर धर्म लोकोत्तर गति को विकसित करता है और उन नियमों तथा सत्यों की खोज करता है जो राजनीतिक नियम तथा सत्य से भिन्न या इतर हैं। धर्म राजनीतिक नियम को लोक-धर्म कहकर अथवा उसको गण-धर्म, वर्ण-धर्म, कुल-धर्म, जाति-धर्म तथा राष्ट्र-धर्म कहकर उस सामान्य नियम की खोज करता है जो लोकधर्म का आधार होते हुए भी लोकधर्म से अधिक व्यापक, सूक्ष्म और शक्तिशाली है। भारत में इस खोज के परिणाम-स्वरूप सामान्य धर्म की खोज हुई और पश्चिम में इसके फलस्वरूप नैतिक नियम की। कांट ने नैतिक नियम की जो परिभाषा दी वह सामान्य नियम या सामान्य धर्म की परिभाषा है। सामान्यीकरण नैतिक नियम का लक्षण है।

इस सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा भारत और पश्चिम में अन्तःकरण की आवाज़ के आधार पर की गयी। किन्तु दोनों जगह यह भी माना गया कि नैतिक नियम के अतिरिक्त एक बाह्य नियम भी है जिसका आधार मानव का अन्तःकरण नहीं किन्तु एक विश्वव्यापी चैतन्य है। कान्ट ने इस नियम को सृजनात्मक नियम माना और सौन्दर्य तथा सोद्देश्यता उसके लक्षण माने। भारत में इस नियम को परमात्मा का नियम कहा गया और उसकी प्राप्ति को परमार्थ माना गया जिसे परम धर्म की भी संज्ञा दी गयी। इस प्रकार सामान्यधर्म से परमधर्म की गति का विकास हुआ।

सामान्य धर्म और परम धर्म में आरम्भ में कुछ ऐक्य था। किन्तु कठोपनिषद् के ऋषि ने इस ऐक्य को तोड़ते हुए सामान्य धर्म को प्रेय-मार्ग और परमधर्म को श्रेयमार्ग कहा। गौतम बुद्ध और उनके अनुयायियों ने इस अन्तर को और बढ़ाया और इसके आधार पर संवृत्ति-सत्य तथा परिनिष्पन्न-सत्य के द्वैत को खड़ा किया। शंकराचार्य और उनके अनुयायियों ने इस द्वैत को और अधिक विकसित किया तथा इसे व्यवहार और परमार्थ का द्वैत कहा। व्यवहार अभ्युदय के लिए है; परमार्थ मोक्ष के लिए है। इस प्रकार परमधर्म या मोक्ष या श्रेयमार्ग का पूर्ण अलगाव सामान्य धर्म से हो गया। दूसरे शब्दों में मोक्ष का पूर्ण विच्छेद धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थों से हो गया। यह अलगाव राजनीति से धर्म का पूर्ण अलगाव है। इसके कारण धर्म धीरे-धीरे पूर्णतया लोकोत्तर हो गया। वह लोक को माया या मिथ्या कहने लगा और सिद्धियों, चमत्कारों, रहस्यों तथा गुह्य सत्यों की खोज करने लगा। मोक्ष-धर्म की स्थिति स्वान्तः अनुभूति की स्थिति थी जिसमें आत्म-साक्षात्कार ही एकमात्र मूल्य माना जाता था। किन्तु जब धर्म पूर्णतया लोकोत्तर हो गया तब वह आत्म साक्षात्कार की स्थिति से भी ऊपर उठ गया और गुह्य लोकों तथा सत्यों की प्राप्ति करने में लग गया। इस कारण हम धर्म की इस स्थिति को गुह्य धर्म कहते हैं और इसे मोक्षधर्म से भी भिन्न मानते हैं। हिन्दुओं ने गोलोक, बैकुण्ठ आदि की खोज की और बौद्धों ने अनेक बुद्ध-लोक की खोज की। किन्तु इससे गुह्य धर्म मानव जीवन की दैनंदिन गतिविधि से बिल्कुल अलग हो गया। कहीं वह तंत्र और वाममार्ग के चक्कर में पड़ा तो कहीं हठ योग और राजयोग के चक्कर में। स्पष्ट है कि गुह्य-धर्म, धर्म का सार्वजनिक रूप नहीं हो सकता है। इस कारण गुह्य धर्म से ही धर्म का एक ऐसा तत्व विकसित होता है जो गुह्य धर्म का सार होते हुए भी सर्वसुलभ सार्वजनिक धर्म हो जाता है। यह तत्व भक्ति है। भक्ति ही गुह्य-धर्म का प्राण है। इस प्रकार गुह्य धर्म से भक्ति धर्म का विकास होता है और भक्ति को लोग सबसे बड़ा परमार्थ या पुरुषार्थ मानने लगते हैं। भक्ति का सीधा सम्बन्ध एक ओर मानव हृदय से है और दूसरी ओर उस परमात्मा से है जो सर्वव्यापी होता हुआ भी सबसे परे है और जिसके तथा मानव हृदय के बीच मूल सम्बन्ध श्रद्धा और विश्वास का है। धर्म की इस लोकोत्तर गति में भक्ति-धर्म अन्तिम अवस्था नहीं है। इसके बाद भी इससे एक अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें भक्त ही भगवान हो जाता है, प्रत्येक मनुष्य भक्त हो सकता है, जनता जनार्दन हो जाती है, नर नारायण हो जाता है और जन-सेवा सर्वश्रेष्ठ भक्ति बन जाती है। यह जनसेवा पुनः धर्म को मानव-जीवन से जोड़ देती है और इस अवस्था में कहा

जाने लगता है कि सबसे बड़ा धर्म परोपकार है तथा सभी बड़ा पाप दूसरों की हिंसा करना या दूसरों को दुःख देना है। सेवा इसका मुख्य लक्षण हो जाता है। सेवाधर्म को इतना गहन धर्म कहा गया है कि योगी लोग भी इस धर्म को प्रायः प्राप्त नहीं कर पाते हैं।[1]

इस प्रकार धर्म की लोकोत्तर गति में भी क्रमशः छः अवस्थायें हैं जो लोकधर्म, सामान्यधर्म, परमधर्म या मोक्षधर्म, गुह्यधर्म, भक्तिधर्म और सेवाधर्म के नाम से पुकारी जा सकती हैं।

धर्म की गति से स्पष्ट है कि धर्म का लोकोत्तर उत्थान चाहे जितना हो किन्तु अन्ततोगत्वा उसका लक्ष्य लोक-कल्याण ही है। वह लोक-धर्म और सामान्य से बहुत दूर जाकर भी पुनः अधिक दृढ़ और सबल होकर लोक सेवा के क्षेत्र में उतरता है। और मानवता की सर्वमुक्ति का प्रयत्न करता है, मानवता के दुःख को दूर करता है और प्रत्येक मनुष्य को एक ऐसा सुख देता है जो अलौकिक और लोकोत्तर होता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि लोकोत्तर धर्म जो लोक-सुख देता है उसे राजनीति नहीं दे सकती है। राजनीति केवल वही सुख दे सकती है जिसको लोकधर्म प्रदान करता है। यदि मनुष्य के कुछ और उच्चतर सुख हैं तो फिर उन्हें राजनीति नहीं दे सकती है। उनको केवल लोकोत्तर धर्म की विभाज्य अवस्थायें ही प्रदान कर सकती है। इस प्रकार लोकोत्तर गति से जब धर्म लोक पर पुनः उतरता है तब उसका राजनीति से किसी भी प्रकार का संघर्ष अथवा द्वन्द्व नहीं रह जाता है। वह राजनीति से सर्वथा स्वतंत्र एक लोकमुख का क्षेत्र ढूँढ़ लेता है और उसी में वह अपने अनुसन्धान करता रहता है। राजनीति इस धर्म का दमन या उन्मूलन नहीं कर सकती है। इसको चाहे किसी अपशब्द से पुकारा जाय या किसी प्रशंसनीय शब्द से सम्बोधित किया जाय, यह धर्म स्तुति और निन्दा से परे हैं। इसका स्वरूप पूर्ण लौकिक होते हुए भी अलौकिक है। व्यक्तिगत होते हुए भी सार्वजनिक है, आध्यात्मिक होते हुये भी भौतिक कल्याण से संयुक्त है, भक्ति समन्वित सेवा या सेवा-धर्म ही सच्चा धर्म है। यह उल्लेखनीय है कि इस सच्चे धर्म का विकास राजनीति भी करना चाहती है। अतएव सच्ची राजनीति और सच्चे धर्म में कोई भेद नहीं है। सच्ची राजनीति लोकनीति और लोक-सेवा है और सच्चा धर्म भी लोकधर्म और लोकसेवा है।

४. राजनीति की निजी गति

जब तक राजनीति मुख्य रूप से दण्डशक्ति थी तब तक वह धर्म के अधीन थी। किन्तु ज्यों-ज्यों उसने क्रमशः ज्ञानशक्ति, अर्थशक्ति और जनशक्ति को भी स्वायत्त कर लिया त्यों-त्यों उसने धर्म को प्रभावशून्य कर दिया और ऐहिक जीवन का समग्र रूप ले लिया। यूरोप में यह विकास विशेषरूप से स्पष्ट हुआ है, क्योंकि वहीं सबसे पहले ज्ञान को शक्ति माना गया[2] और दण्ड शक्ति और ज्ञान-शक्ति का संग्रह एक ही व्यक्ति या वर्ग में किया गया। इसके बाद उस व्यक्ति या वर्ग ने धीरे-धीरे अर्थ-शक्ति को भी स्वायत्त कर लिया और अर्थ-

---

१. सेवाधर्मो परमगहनो योगिनामपि अगम्यः —लोकोक्ति।

२. पश्चिम में लोकोक्ति है कि ज्ञान शक्ति है। भारत में इसके विपरीत माना जाता है कि ज्ञान सद्गुण है। इस भेद को आस्वाल्ड स्पेंगलर ने डेक्लाइन आव द वेस्ट में दिखलाया है।

शक्ति से उसने पूरी तरह से जनशक्ति को भी हथिया लिया। जब इन चारों शक्तियों का एकत्र जमाव हो जाता है तब राजनीति जन-जीवन से दूर हो जाती है। जन-जीवन उसका विषय हो जाता है और वह एकमात्र विषयी हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह राजनीति का पलायन है या गुह्य और रहस्यमय होना है। तब वह आतंकवाद हो जाती है जो राजनीति का उन्मूलन है। वास्तव में राजनीति जीवन है, वह आत्मा नहीं हो सकती। वह मन या बुद्धि भी नहीं हो सकती है। अतः जब राजनीति विषयी बना ली जाती है। तब वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं। पश्चिम में राजनीति इसी आत्मघाती स्थिति से गुजर रही है।

भारत में यह विकास उन्नीसवीं शताब्दी तक प्रायः अवरुद्ध रहा है क्योंकि यहाँ चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था ने राजनीति को जीवन का केवल एक चौथाई बनाया था और इन चार शक्तियों के केन्द्रीकरण को असम्भावित कर दिया था। यूरोप में यह अवरोध नहीं था। इसलिये मेक्यावली से लेकर हाब्स तक और रूसो से लेकर मार्क्स तक वहाँ राजनीति का जो विकास हुआ उसके फलस्वरूप राजनीति समग्र जीवन हो गयी और राज्य में दण्ड-शक्ति, ज्ञान-शक्ति, अर्थ-शक्ति और जन-शक्ति का एक जगह जमाव हो गया। हाब्स ने इसीलिये सम्राट् को संप्रभु या महा शक्तिशाली लेवाइथन कहा और मार्क्स ने इसको हटाकर जनशक्ति की सत्ता को उस पर आसीन कर दिया। राजनीति के इस विकास ने यह सिद्ध किया कि ये चारों शक्तियाँ किसी व्यक्ति या वर्ग को नहीं है अपितु पूरे समाज की है और इसलिये पूरे समाज को मिलकर इनका उपयोग तथा उपभोग करना चाहिये।

किन्तु समाज क्या है? समाज एक अर्थ में सम्पूर्ण मानवता है और इस अर्थ में वह इन चारों शक्तियों का पुँजीभूत रूप नहीं बन सकता है। इस रूप के लिए, ऐसे समाज की आवश्यकता थी जिसमें सभी सदस्य इन चारों शक्तियों के एकीकरण का स्वागत कर सकें। ऐसा समाज मध्ययुगीन छोटे राज्यों से विकसित हुआ जिसे राष्ट्र की संज्ञा दी गयी। इस प्रकार राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद आधुनिक युग में प्रथम राजनीतिक सिद्धान्त हुआ जिसने मध्ययुगीन धर्म का रूप धारण किया। राष्ट्रवाद लोकधर्म बन गया और फ्रांस की राज्य क्रांति के पश्चात् प्रत्येक देश की जनता स्वदेशी स्वातंत्र्य के लिये लड़ने लगी। किन्तु एक देश के राष्ट्रवाद से दूसरे देश के राष्ट्रवाद के संघर्ष भी इससे पैदा होने लगे और ऐसे संघर्ष को दूर करने के लिये समाजवाद की विचारधारा आविर्भूत हुई। जिसने राष्ट्रीयता के स्वर के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता के स्वर पर बल दिया। सभी राष्ट्रों को समान अधिकार मिलना चाहिये, यह समाजवाद का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसका दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर रहने वाले नागरिकों में आर्थिक समानता होनी चाहिये। रूसी क्रांति से इन दोनों सिद्धान्तों की पूर्ति होने की सम्भावना बढ़ी और स्वतंत्रता, समता तथा विश्व-बन्धुत्व के आदर्श ने समस्त विश्व को प्रभावित किया। इस प्रकार यद्यपि आधुनिक राजनीति ने मध्ययुगीन धर्म का बहिष्कार किया तथापि उसने स्वयं स्वतंत्रता, समता और विश्व बन्धुत्व के मूल्यों को एक धर्म का रूप दिया। इन मूल्यों ने विश्व के अधिकांश मनुष्यों को सत्यं शिवं सुन्दरम् से भी अधिक आकृष्ट और प्रभावित किया और मध्ययुगीन राजनीति को ध्वस्त करके आधुनिक राजनीति को जन्म दिया।

इन मूल्यों का एक लम्बा इतिहास है जो अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह अभी बन हो रहा है। रूसो ने मानव के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को, मानव-अधिकारों को, आधुनिक युग में सबसे पहले और सबसे सबल ढंग से स्थापित किया है। उसके आधार पर काण्ट ने मानव के शोषण को अनैतिक बताया और सिद्ध किया कि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए एक स्वतः साध्य है। उसने रामराज्य या पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य की स्थापना के स्थान पर ऐसे साध्यों के राज्य की स्थापना की वकालत थी। उसके पश्चात् उपयोगितावादियों ने प्रचारित किया कि अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख ही प्रत्येक मानव का एकमात्र लक्ष्य है। इससे जनतंत्र को एक ठोस आधार मिला और उसने "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" के सूत्र को लेकर जनतंत्र को एक कार्यक्रम प्रदान किया। आदर्शवादी विचारकों ने उपयोगितावादियों से आगे बढ़कर सामान्य कल्याण या सार्वजनिक कल्याण को प्रत्येक व्यक्ति तथा राज्य का एकमात्र आदर्श बताया और सिद्ध किया कि राज्य और व्यक्ति दोनों का कल्याण एक और अभिन्न है। विकासवादियों और साम्यवादियों ने सामान्य कल्याण को सामुदायिक कल्याण बताते हुये सिद्ध किया कि वास्तव में कल्याण सामुदायिक ही होता है और वह व्यक्तिगत नहीं होता है। स्वतन्त्रता एक श्रेय है किन्तु वह व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक ही है। इस प्रकार रूसो से लेकर मार्क्स तक जो राजनीतिक विकास हुआ उसमें स्वतन्त्रता का धीरे-धीरे अवमूल्यन हो गया अथवा यों कहिये कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता धीरे-धीरे नष्ट हो गयी और सामुदायिक स्वतन्त्रता या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता ने उसका स्थान ले लिया। परन्तु साम्यवाद ने राष्ट्रवाद की भी हत्या कर दी। फिर प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्व युद्ध ने साम्यवाद की हत्या कर दी है। आस्वाल्ड स्पैंगलर ने ठीक ही कहा है कि मानव-अधिकारों में जो विश्वास था वह १८४८ से अर्थात् कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो के प्रकाशन के समय से समाप्त हो गया और विश्व युद्ध ने साम्यवाद की शक्ति को भी समाप्त कर दिया है। यद्यपि स्पैंगलर ने साम्यवाद के बारे में यह निर्णय प्रथम विश्व युद्ध की घटना से ही निकाल दिया था तथापि उसके निर्णय का पूर्ण सत्यापन साम्यवादी सरकारों के परवर्ती व्यवहार से बहुत सुदृढ़ ढंग से हो जाता है। सोवियत संघ और साम्यवादी चीन का संघर्ष, सोवियत संघ का पूर्वी यूरोप के देशों को अपने प्रभुत्व में रखना, चीन का भारत पर आक्रमण करना आदि ऐसी घटनायें हैं जो सिद्ध करती हैं कि साम्यवाद की भी हत्या हो गयी है। यह उल्लेख-योग्य है कि साम्यवाद की हत्या प्रायः उसी राष्ट्रवाद ने की जिसकी हत्या साम्यवाद ने की थी। राष्ट्रवाद और साम्यवाद ने इस प्रकार सुन्दोपसुन्द-न्याय से एक दूसरे की शक्ति को यदि जड़ से समाप्त नहीं कर दिया है तो उन्होंने एक दूसरे को पूर्णतया बलहीन और जड़ीभूत अवश्य कर दिया है। साम्यवाद के पश्चात् राजनीति मर चुकी है और वह आगे बढ़ने के बजाय पीछे के किन्हीं सिद्धान्तों की ओर अनुगमन कर रही है। सारा राजनीतिक चिंतन और कर्म इस प्रकार आजकल अगति के गर्त में पड़ा है।

इस विकास से स्पष्ट है कि जब पहले-पहल राजनीति धर्म से अलग हुई तब वह स्वयं किसी न किसी सिद्धान्त का आश्रय लेकर मानव जीवन को प्रभावित करती रही। यह सिद्धान्तवाद यद्यपि धर्म नहीं है तथापि इसका प्रभाव, महत्त्व और कार्य वही है जो धर्म का

है। अतएव हम कह सकते हैं कि धर्म से हटकर या धर्म से अपने को अलग करके राजनीति स्वयं अपने अन्दर धर्म की खोज कर रही है। यदि उसको इस खोज से हटाकर समझा जाय तो राजनीति कुछ नहीं है। धर्मविहीन राजनीति वास्तव में सिद्धान्तविहीन राजनीति है जो व्यवहार में भले ही सुलभ हो किन्तु वह राजनीति नहीं है। उसकी गणना अराजकता या अनीति में है।

यदि राजनीति के विकास को हम राजनीतिज्ञों के और राजनेताओं के दृष्टिकोण से देखें तो हमें पहले वर्ग-राजनीति मिलेगी जो प्राचीन यूनान और भारत दोनों जगह थी। यह वर्ग-राजनीति मानव की मूल प्रवृत्तियों या वासनाओं पर आधारित थी। इसमें शासक या राजनेता वे ही होते थे जो शासक-वर्ग से सम्बन्धित थे। वर्ग-राजनीति से ही दल-राजनीति का आविर्भाव हुआ। दल-राजनीति में राजनेता किसी दल के व्यक्ति होने लगे। और उनके दल में प्रत्येक वर्ग के लोगों का स्थान होने लगा। यह दल-राजनीति विचारधारा और कार्यक्रम पर आधारित हैं। इस प्रकार दल-राजनीति से इसका स्तर अधिक बौद्धिक और ऐच्छिक हैं। किन्तु दल-राजनीति से अनुगमन-राजनीति का जन्म होता है जिसका केन्द्र विन्दु केवल एक स्वामी या महापुरुष होता है और अन्य लोग उसके अन्ध अनुयायी होते हैं। अनुगमन-राजनीति का आधार शक्ति की इच्छा (विल टू पावर) हैं। आरम्भ से नेता और उसके अनुयायी एक दल से बँधे रहते हैं और इस कारण एक विचारधारा और एक कार्यक्रम उनको एक सूत्र या संगठन में बांधते हैं। किन्तु शक्ति की इच्छा प्रत्येक विचारधारा या कार्यक्रम से अधिक शक्तिशाली होती है और इस कारण अनुगमन की राजनीति विचारधारा और कार्यक्रम को फेंक देती है। उसको मानने वाले महापुरुष या स्वामी को समर्पित करके यंत्रवत अपना कार्य करते हैं। इस प्रकार नेता अभिमानव हो जाता है। कुछ लोगों ने उसको अर्द्ध-देवता भी कहा है। कुछ भी हो नेता आधुनिक संदर्भ में प्राचीन या मध्ययुगीन निरंकुश राजा ही है। उसकी इच्छा जनता का कानून बनती है। इसे तानाशाही, हिटलरशाही या फासिज्म कहा जाता है। भारत में इसको रावण-राज्य माना गया है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म से अलग हो जाने पर राजनीति ने दलराजनीति का रूप धारण किया और दल-राजनीति से फिर अतिमानव की राजनीति उत्पन्न हुई। इन दोनों अवस्थाओं में राजनीति धर्म से पूर्णतया निरपेक्ष है किन्तु पहली अवस्था में दल की प्रतिष्ठा धर्मसंघ या सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा के समान है। इस कारण उसमें धर्म का कोई न कोई रूप अवश्य है। दूसरी अवस्था में सिद्धान्त का पूर्ण लोप है और सचमुच धर्म का कोई स्थान नहीं है। वह शुद्ध व्यक्ति-पूजा है जो न धर्म है न राजनीति है।

किन्तु क्या निरंकुश शासन या तानाशाही ही वर्तमान राजनीति की गति है? आस्वाल्ड स्पैंगलर ने "दी डिक्लाइन आव दी वेस्ट" नामक ग्रंथ में इसका उत्तर दिया है। उसने कहा है कि वास्तव में यह राजनीति का ही अन्त है। इस प्रकार राजनीति का जैसे राजशक्ति से उद्भव हुआ वैसे ही राजशक्ति से उसका अन्त भी हो गया। धर्म का सिद्धान्त, जामा या संयम छोड़ देने से वह वैसे ही रहस्यमय, गुह्य, गोपनीय, विस्मयकारी, चमत्कारपूर्ण तथा अनन्तशक्ति की उपासना हो जाती है जैसे राजनीतिका का सम्पर्क छोड़ देने से धर्म

हो जाता है। इस लोक में धर्म-विहीन राजनीति की गति वही है जो राजनीति-विहीन धर्म की है—अर्थात् दोनों आत्महत्या की ओर बढ़ते हैं और आत्म-घात कर लेते हैं। जैसे राजनीति से दूर होकर धर्म, तंत्र और योग के गर्त में पड़ गया और वशीकरण, विदूषण मारण, उच्चाटन, स्तम्भन और शान्ति के षट्कर्म करने लगा; वैसे धर्म से दूर होकर राजनीति भी फासिज्म के तन्त्र में पड़ गयी और इन्हीं षट्कर्मों का प्रशासनिक प्रयोग करने लगी। दोनों से जनता का केवल संत्रास बढ़ता है। धर्म-विहीन राजनीति ने शुद्ध भौतिक शक्ति के क्षेत्र-प्रयोग, जंत्र-प्रयोग और बल-प्रयोग की शरण ले ली है और राजनीति-विहीन धर्म ने शुद्ध आध्यात्मिक शक्ति के मंत्र-प्रयोग, जंत्र-प्रयोग और बल-प्रयोग का शरण लिया है। शुद्ध भौतिक शक्ति या सैन्य शक्ति का प्रभुत्व वैसे ही त्रासदायक है जैसे शुद्ध आध्यात्मिक शक्ति का प्रभुत्व। इन दोनों के निमंत्रण से ही जन-शक्ति का आविर्भाव होता है। जब तक जन-शक्ति इन दोनों पर अपना पूर्ण नियंत्रण नहीं रख लेती तब तक राजनीति का पुनर्जीवन सम्भव नहीं दीखता है।

इस समय विश्व में राजनीति की जो स्थिति है वह उसके आत्मघात की स्थिति है। राष्ट्रवाद और समाजवाद दोनों मर चुके हैं, केवल दोनों का शव विश्व में पूजा जा रहा है। उपयोगितावाद, आदर्शवाद, विकासवाद और साम्यवाद की विचारधारा की शक्ति समाप्त हो चुकी है। उनके स्थान पर समष्टिवाद या फासिज्म और अराजकतावाद अवतीर्ण हो चुके हैं। जिनके पास शक्ति है वे समष्टिवाद को मानते हैं और जिनके पास न शक्ति है न शक्ति की इच्छा है वे अराजकतावाद को मानते हैं। शेष लोग शक्तिशाली नेता के अन्ध भगत हैं। समाजवाद ने सारी शक्ति को एकत्र संचित कर लिया है। उसने सारे जीवन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है और जनता उसको चुनौती नहीं दे सकती है, उसका विरोध नहीं कर करती है। इससे जो लोग स्वतंत्र चिन्तन और कर्म को महत्व देते हैं वे आदर्शवादी या ध्वंसात्मक अराजकता की ओर बढ़ रहे हैं। वे धर्म और राज्य दोनों को अनिष्ट अनर्थ या कलंक मानते हैं। वाकुनिन क्रांतिकारी अराजकता के दार्शनिक हैं तो क्रापाटकिन शान्तिपूर्ण विकासवादी अराजक थे। किन्तु दोनों प्रकार की अराजकता पलायनवाद है। वह धर्म तथा राजनीति से पलायन है। अतएव वह वास्तविकता से दूर है। धर्म और राजनीति अथवा धर्म-संघ और राज्य भूत-प्रेत या अंध विश्वास नहीं है। उनके वास्तविक आधार हैं।

प्रत्यक्षतः समष्टिवाद और अराजकतावाद दोनों राजनीति के निषेध हैं। राजनीति अपना पूर्ण चक्कर लगा चुकी है। लगता है कि इस निषेध के बाद उसका जो चक्कर लगने वाला है वह पुनः राजनीति की वह स्थिति होगी जिसमें उसका धर्म से पूर्ण अभेद है। युद्ध की तैयारी, युद्ध का भय, अर्थशास्त्र की गति, शक्ति की इच्छाओं के संघर्ष, समष्टिवाद की बढ़ती हुयी शक्ति तथा अराजकतावाद का प्रचार-प्रसार ऐसे चिन्ह हैं जो संकेत देते हैं कि अब राजनीति अपने पूर्ण निषेध को पार करके सामान्य धर्म या नीति-शास्त्र के निकट आ रही है। इसमें बाधक समष्टिवाद है। किन्तु उसका अन्त वैसे ही सुनिश्चित है जैसे राजतंत्र का अन्त सुनिश्चित हो गया है। शक्ति की इच्छा से अधिक बलवती जीवन की इच्छा या जिजीविषा है। यह जिजीविषा निश्चय ही समष्टिवाद को तो समाप्त कर ही देगी किन्तु शक्ति की इच्छा

को भी समाप्त कर देगी। अतएव स्पेंगलर के निराशावाद को अवकाश नहीं है। शक्ति की इच्छा ही मूल अनर्थ है। उसका उन्मूल अपेक्षित है। प्रत्येक मनुष्य यह मानकर जीवन निर्वाह करता है कि भविष्य अतीत से अधिक सुखमय और आशावान है। यह जिजीविषा शक्ति की इच्छा को समाप्त करके राजनीति को धर्म के निकट कर देगी। राज्य-सत्ता के उन्मूलन की चर्चा पश्चिम के विचारकों ने की है। किन्तु उसका अस्तित्व शक्ति की इच्छा पर ही नहीं किन्तु व्यवस्था या मर्यादा पर भी निर्भर है। जब तक शक्ति की इच्छा का उन्मूलन नहीं होता है तब तक राज्य-सत्ता रहेगी और इसका उन्मूलन हो जाने पर भी राज्य-सत्ता रह सकती है क्योंकि तब वह व्यवस्था या मर्यादा के अनुशासन में रहेगी। अतः हमारा मत है कि राज्य-सत्ता का उन्मूलन असम्भव है जो सम्भव है वह यह है कि राजनीति और धर्म का अभेद स्थापित हो। इस अभेद के बिना दोनों आत्मघातक हैं। राजनीति जीवन है और धर्म सम्यक् जीवन है। मानव जीवन मात्र जीवन नहीं है, नहीं हो सकता है। उसे अनिवार्यतः सम्यक् जीवन होना है या सम्यक् जीवन के लिये प्रयास करना है।

५. निष्कर्ष

अन्त में उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष देना हम विषय के प्रतिपादन के लिये आवश्यक समझते हैं। मनीषी पाठकों या श्रोताओं को निम्नलिखित निष्कर्ष निकालने में कोई तार्किक कठिनाई न होगी—

(१) इस समय राजनीति का विकास पूर्णतया अवरुद्ध हो गया है। समाजवाद से आगे राजनीतिक चिन्तन तथा राजनीतिक कर्म नहीं बढ़े हैं। उल्टे ये दोनों समाजवाद से पीछे की ओर चले गये हैं और कभी राष्ट्रवाद का रूप लिये हैं तो कभी तानाशाही के ओर कभी किन्हीं प्राचीन और कालातीत राजनीतियों के समष्टिवाद के। प्रत्येक दशा में राजनीति की गति अतीतोन्मुख है। वह सृजनशील या भविष्योन्मुख या विकासोन्मुख नहीं है। राजनीति का चरम विकास हो चुका है। अब केवल उसकी किसी अतीत अवस्था या किन्हीं अवस्थाओं के समन्वय का ही अवकाश है।

(२) इसी प्रकार धर्म का भी चरम विकास हो चुका है। अब उसका अनुगामी विकास नहीं हो सकता है। जो सम्भव है वह केवल यह है कि धर्म की किसी अतीत अवस्था को स्वीकार किया जाय या कुछ अतीत अवस्थाओं का समन्वय स्थापित किया जाय। धर्म भी राजनीति की भाँति पूर्णतया अतीतोन्मुख और समन्वयोन्मुख है।

(३) किन्तु यदि हम उपर्युक्त दोनों निष्कर्षों से आगे बढ़ना चाहते हैं तो हमें एक बार पुनः उस प्रस्थान-विन्दु पर वापिस आना पड़ेगा जहाँ से धर्म राजनीति एक दूसरे से अलग हुये हैं। हमें पुनः धर्म और राजनीति का अभेद मानना पड़ेगा। धर्म को राजनीति से और राजनीति को धर्म से केवल मर्यादित ही नहीं करना पड़ेगा प्रत्युत अनुपूरित भी करना पड़ेगा। यही अनुपूरण राजनीति और धर्म को भविष्योन्मुख और प्रगतिशील बना सकता है। किन्तु इस अनुपूरण को उन दोषों से बचाना पड़ेगा जो धर्म और राजनीति का पूर्ण अभेद ही दोनों को नया जीवन दे सकता है।

(४) धर्म और राजनीति में यद्यपि अभेद है, यद्यपि दोनों का वास्तविक और कल्याणकारी कार्य एक ही है और दोनों एक दूसरे से पृथक् हैं, तथापि दोनों का कुछ भेद भी है। इस भेद के कारण ही दोनों का पृथक्करण होता है, दोनों के पृथक्-पृथक् विकास होते हैं, प्रत्येक के विकास की पराकाष्ठा होती है और प्रत्येक की पराकाष्ठा प्रत्येक की अधोगति बन जाती है। किन्तु यह भेद मूल्यात्मक है और सत्तात्मक या ज्ञानात्मक नहीं है। अभी तक इस भेद को सत्तात्मक और ज्ञानात्मक माना गया था और इसी कारण दोनों का पृथक्करण हुआ था। किन्तु अब मूल्य-मीमांसा के विकास ने सिद्ध कर दिया है कि यह भेद केवल मूल्यात्मक है और मूल्यात्मक भेद इनके सत्तात्मक और ज्ञानात्मक अभेद को प्रतिष्ठित करता है। इस प्रकार राजनीति और धर्म दो उच्चतर मूल्य हैं जिनकी एकत्र उपलब्धि होनी चाहिये। जो लोग राजनीति-मूल्य और धर्म-मूल्य को उपलब्ध कर सकते हैं, करेंगे, वे ही राजनीति और धर्म को उनकी अद्यावधि विकसित अवस्था से आगे ले जा सकते हैं। अभी तक मेरे विचार से राजनीति और धर्म के अभेद की पराकाष्ठा नहीं हुयी है। यद्यपि पृथक्-पृथक् प्रत्येक की पराकाष्ठा हो गयी है। यह अभेद प्राचीन काल में बचपन में था। अब भी वह बचपन में ही पड़ा है। उसको अब विकसित करने की आवश्यकता है। इस पुराण या पुराना शिशु को अब तरुण होना है।

●

धर्म और राजनीति

कृष्णनाथ

आज-कल देश और दुनिया में धर्म और राजनीति दोनां में अगति आ गयी है, थकान है, ऊब है। प्रचलित धार्मिक विश्वास, संस्थाएं, कर्मकांड, देवी-देवता, रीति-रिवाज मनुष्य को वह आंतरिक आनंद नहीं देते जो पहले कभी देते थे। प्रचलित राजनीतिक विचार दर्शन, पार्टियां, सत्ता और विरोध की राजनीति में वह तेज नहीं हैं जो पहले कभी हुआ करता था। प्रचलित धर्म और राजनीति की शैलियों से तृप्ति, तुष्टि नहीं है। लेकिन इनके बिना भी गति नहीं है। इसलिए धर्म और राजनीति दोनों में ही बुनियादी परिवर्तन, नवीनकरण, अविष्कार की जरूरत महसूस हो रही है। अपने देश में भो, दुनिया में भी।

यह तलाश हर स्तर पर जरूरी है। विचार बीज से ही इस नये का जन्म होने वाला है किन्तु करोड़ों आम लोगों के लिए सिर्फ विचार ही पर्याप्त नहीं होते। उन्हे कुछ विश्वास, कुछ मूर्तियां, कुछ कर्मकांड, मेला-तमाशा वगैरह की जरूरत भी रहती है, धर्म में भी, राज-नीति में भी।

भारत सहित एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमरीका के महाद्वीपों और देशों में तो राजनीति की सामाजिक परिवर्तन में जबर्दस्त भूमिका है। पुराने ढांचों को बदलने और नये का सृजन और पोषण करने में राजनीति का रोल महत्व का है। किन्तु मनुष्य के लिए जरूरी मूलभूत परिवर्तन के लिए राजनीति जरूरी होते हुए भी काफी नहीं है। इन परिवर्तनों को धारण करने की शक्ति धर्म और अध्यात्म से आती है। व्यक्ति की अन्तरतम वासनाओं, चित्त वृत्तियों के संशोधन और परिवर्तन के बिना बाह्य परिवर्तन से मनुष्य और उसका समाज नहीं बदलता। इस आंतरिक वासना और वृत्ति का नियमन, संचालन, संशोधन अध्यात्म का विषय है। यह विषय आत्मनः सम्बद्ध है, आत्मा का, खुदी का अनात्म से, नाखुदी से, ब्रह्मांड और उसके परे से सम्बन्धों की तलाश भी नयी दिशा की खोज में उतनी ही महत्व की हैं, जितनी नयी राज-नीतिक विचार-धाराओं, पार्टियों और प्रणालियों और प्रक्रियाओं की तलाश। इनमें पहले और बाद का, आधार और ऊपरी ढाँचे का सम्बन्ध नहीं है, साथ-साथ का, अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है।

धर्म और राजनीति का उद्भव और विकास मनुष्य समाज में प्रायः साथ-साथ ही हुआ है। इतिहास पुराण में यह प्रसंग आता है कि पहले राजा नहीं था। तो लोक में सर्वत्र भय व्याप्त था, स्त्री-पुरुष की कोई मर्यादा न थी, धर्म और जीवन अरक्षित था। लोगों ने मिलकर अपना राजा चुना और राजा के कर्तव्य-अकर्तव्य के लिए ब्रह्मा ने एक लाख श्लोकों का नीति शास्त्र बनाया। नीति और धर्म के अनुसार राजा राज करने लगा। स्वयं और अपने

भृत्यों को धर्म के अनुसार सदा लोकहित के लिए नियोजित करने लगा। तब लोक का भय समाप्त हुआ और लोक यात्रा सम्भव हुई। यह राज धर्म कहलाया। राजनीति के लिए पुराना शब्द राजधर्म है। राजधर्म राज्य के क्षेत्र में धर्म का विस्तार है। इस राजधर्म के लुप्त हो जाने पर धर्म, कर्म, ग्रंथ, सदाचार, अर्थ, काम, मोक्ष सब नष्ट हो जाता है। इस तरह धर्म और राजनीति या राजधर्म साथ-साथ ही जनमता, फलता-फूलता या नष्ट होता है।

धर्म और राजनीति का जहाँ लगाव है, वहीं अलगाव भी है। इनके क्षेत्र अलग-अलग हैं। मूल तत्त्व दोनों ही के एक हैं, लेकिन इनके रूप, रूपाकार अनेक हैं। इसके अलावा, दोनों ही के कुछ सिद्धांत-व्यवहार सार्वभौम हैं, सर्व सर्वत्र, सर्वदा के हैं और कुछ देश, काल, परिस्थिति सापेक्ष्य हैं। उदाहरण दे कर इन्हें स्पष्ट करने का न यहाँ अवसर है, न आवश्यकता है। इन कोटियों को और इनके सम्बन्धों को एक साथ अलग-अलग और साथ-साथ देखने का संकेत काफी है।

देश-काल परिस्थिति निरपेक्ष होकर अगर धर्म और राजनीति पर बहस चलायी जाए तो यह बहस बहक जाएगी। इसमें से कुछ नहीं निकलेगा। इसलिए धर्म और राजनीति पर विचार को अपने देश के समसामयिक संदर्भ में चलाना अच्छा होगा। देश-काल के चौखटे के इधर-उधर आना-जाना निषिद्ध नहीं है, यह उछाल मन और विश्लेषण को ऊपर उठाती है। लेकिन धर्म और राजनीति के सम्बन्धों के अध्ययन के लिए देश काल का चौखटा ध्यान में रखना अच्छा है।

अपने देश में हाल-हाल में धर्म और राजनीति के सम्बन्धों का आधार धर्म-निरपेक्षता माना जा रहा है। इसका अभिप्राय धर्म हीनता या धर्म-विमुखता हो रहा है। गांधी युग में हिन्दू-मुसलिम एकता या साम्प्रदायिक एकता या सर्वधर्म समभाव का जोर था। नेहरू युग में यह सोच अपने देश काल के संदर्भ से कट कर 'सेक्यूलरिज्म' के अनुवाद पर आधारित हो गया। 'सेक्यूलरिज्म' का पश्चिमी संदर्भ धर्म और परलोक की विमुखता के कारण इह लौकिक और धर्म विमुखता का रहा है। यह मूल रूप में इह लोकवादी, अ-धार्मिक आंदोलन है। राजनीति में इसका अभिप्राय राज्य और सरकार का चर्च से विमुख और इसाई सम्प्रदायों से निरपेक्ष रहना रहा है। पश्चिमी यूरोपीय समाजों में इसाई धर्म एक है, रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय दो हैं। राज्य इन सम्प्रदायों के मामले में निरपेक्ष रहे तो बस है। तब चर्च संगठित रहा है। अब तो उसमें भी थकान है, ऊब है, लेकिन हरेक का अपना-अपना चर्च है। राज्य अगर इसमें दखल न दे और चर्च राज्य के मामले में दखल न दे तो एक प्रकार का सेक्यूलर राज्य हो जाता है।

धर्म और राजनीति के सम्बन्धों का यह एक प्रकार है जो सिर्फ पश्चिमी हो जाने से त्याज्य नहीं है। अपने देश-काल में वहाँ जो राजधर्म है वह यहाँ अधर्म हो जाता है। देश काल का ऐसा ही महत्व है। यहाँ सम्प्रदाय निरपेक्षता, या साम्प्रदायिक एकता, या ज्यादा साफ शब्दों में हिन्दू मुसलिम एकता या निरपेक्षता ठीक है। इसके बजाय 'सेक्यूलरिज्म' का मतलब अपने देश में धर्म-निरपेक्षता, या धर्म-विमुखया या धर्महीनता हो गया है। मेरी विनम्र राय में यह अर्थ नहीं, अनर्थ है।

धर्म के मामले में देश और दुनिया में जहाँ ऊब है, वहीं देश और दुनिया में इसके नये तत्व और रूप, रूपाकारों की जबर्दस्त भूख भी है। हिन्दू, बौद्ध जरथुस्त्र, इसाई, इस्लाम जैसे विश्व धर्म आज के मनुष्य की जरूरतों के लिए अपर्याप्त हैं। इसलिए एक नये विश्व धर्म की आवश्यकता महसूस की जा रही है। नयी विश्व सभ्यता सिर्फ नयी विश्व सरकार और राजनीति और विश्व कानून से ही नहीं बननेवाली है, इसके लिए एक नये विश्व धर्म की भी आवश्यकता है। इस विश्व धर्म के तत्व क्या होंगे ? इसके मसीहा कौन होंगे ? इसके देवी-देवता कैसे होंगे ? इसकी संस्थाएँ कैसी बनेगी ? कर्म-कांड क्या होगा ? और फिर इसमें भी परम्परा और परिवर्तन का द्वंद्व किस प्रकार चलेगा ? यह सब अभी भविष्य के गर्भ में है। लेकिन इसकी आवश्यकता मुझे महसूस हो रही है।

जो भी हो, जब तक यह नया विश्व धर्म नहीं बन जाता तब तक परिवर्तन-कामी जनों में प्रचलित धर्मों के प्रति उदासीनता, तटस्थता की रुझान हो। राज्य तो परम्परा और प्रतिष्ठान का वाहक है। इसलिए राज्य और सरकार अपने देश में हिन्दू-मुसलमान, इसाई आदि धर्मों के लिए समान आदर का भाव रखें, अल्प-संख्यकों सहित सभी के धार्मिक विश्वास और पूजा-पाठ की स्वतंत्रता और सुविधा दे। क्योंकि अपने देश में चुनाव पश्चिम की तरह धर्म और अधर्म के बीच नहीं है। सिर्फ धर्म और विधर्म के बीच भी नहीं है। प्रश्न हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि धर्मों के आपसी सम्बन्धों और इन सबके प्रति राज्य और सरकार के सम्बन्धों का है। इन सम्बन्धों के सूक्ष्म तंतुओं और तनावों को भुलाकर ओढ़ी हुई धर्म-निरपेक्षता निरर्थक है। एक हद के बाद साफ तौर पर नुकसानदेह है।

हिन्दू-मुसलिम एकता या सब धर्मों के प्रति आदर का अर्थ इन धर्मों की रुढ़ियों और मानी हुई कुरीतियों को पवित्र मानकर अछूता रखना नहीं है। न ही अल्प-संख्यकों के धर्म के नाम पर उनके बेमेल व्यवहारों को जिलाये रखना है। संविधान के अनुसार एक जैसा सिविल कानून हिन्दू, मुसलमान, इसाई सबके लिए बनाना राज्यनीति का निर्देशक सिद्धांत है। इसमें जैसे हिन्दू रुढ़िवाद के विरोध के बावजूद विवाह, स्त्री और सम्पत्ति के बारे में हिन्दू कोड बना वैसे ही मुसलमान पर्सनल ला जैसी चीज समान नागरिकता के आधार पर और हिन्दू-मुसलिम एकता और सामीप्य और राष्ट्रीयता के विकाश में अंग्रेजों की साम्राज्यशाही कूटनीति के दिनों का रोड़ा है, वह रोड़ा लोकशाही में कभी का दूर हो जाना चाहिए था। अल्प-संख्यकों की भावना के विशेष आदर का मतलब सिर्फ मुल्लाओं और मोलवियों की भावना का आदर नहीं है, बल्कि मुसलिम स्त्रियों और मुसलिम युवजनों की भावना का और युग धर्म की आवश्य-कताओं और आकांक्षाओं का आदर है।

हिन्दू और इसलाम दोनों ही के कट्टर पंथ एक दूसरे की प्रतिक्रिया में जितने जड़ भारत में हो गये हैं उतने दुनिया के किसी हिस्से के धर्म नहीं है। अपने मूल देशों में इसलाम या इसाइयत भी नहीं है। देश काल के अनुसार धर्म में परिवर्तन स्वयं धर्मों की स्थिति और पालन-पोषण के लिए भी जरूरी है। यह काम तो रोमन कैथोलिक चर्च जैसा कट्टरपंथी चर्च भी करता है। धार्मिक परिवर्तन मूल रूप से धार्मिक नेताओं, मठों, धर्म प्राण व्यक्तियों का काम है। इससे कोई जीवित, जाग्रत धर्म बच कैसे सकता है ? हाँ धर्म में अन्दरूनी परिवर्तन

को राजसत्ता से पोषण मिल सकता है। अच्छा तो हो कि मूल उत्स धर्मों और सम्प्रदायों के अन्दर से ही आए। लेकिन अगर वह किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से नहीं आता तो मध्ययुगीन बर्बरता को बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। वहाँ राजसत्ता को पहल करनी ही होगी। जनतंत्र के शुरू के स्वर बेसुरे लगते हैं। शुरू में धामिक परिवर्तन का, उदाहरण के लिए हरिजन उद्धार का या मुसलिस पर्सनल ला में परिवर्तन का कठमुल्लों और कुछ दिग-भ्रांत युवजनों द्वारा भी विरोध हो सकता है। किन्तु अन्ततः यह परिवर्तन उन धर्मों और सम्प्रदायों के जीवन के लिए मुफीद ही होगा। इनके बिना ये धर्म और सम्प्रदाय अजायबघर की वस्तु बन जायंगे।

धर्म और राजनीति में परिवर्तन के रास्ते में बड़ी बाधा हिन्दू धर्म की प्रचलित व्यवस्था है। इस व्यवस्था को हम अगर एक नाम देना चाहें तो यह ब्राह्मणवादी व्यवस्था है। ब्राह्मणवाद का अभिप्राय ब्राह्मणों की जातीयता नहीं है। जातिवाद तो कम-बेश हर जाति में है। ब्राह्मणवाद का मतलब कुछ परम्परित विश्वास, वर्ण और आश्रम की व्यवस्था, और इनमें ऊँच-नीच का संस्तरण, जन्म, विवाह, मृत्यु वगैरह के संस्कार आदि हैं। जो भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अंत्यज इन्हें मानते हैं, बे ब्राह्मणवाद को मानते हैं। सिर्फ ब्राह्मण ही नहीं।

इनमें भी हिन्दू विश्वास और संस्कार तो जैसे हिन्दू समाज व्यवस्था मे पच गये हैं। फिर, वर्णाश्रम धर्म में आश्रय लुप्त हो गये हैं। वर्ण-धर्म भी जाति धर्म में जकड़ गया है। इस तरह हिन्दूवाद या ब्राह्मणवाद का मतलब जाति-प्रथा रह गया है। यह जाति-प्रथा और ब्राह्मण सहित द्विज-अद्विज, अन्त्यज का संस्तरण, इसमें ब्राह्मण का प्रभुत्व और शेष का ब्राह्मण के प्रति अनन्य समर्पण यही रह गया है। ब्राह्मणवाद जन्म और विवाह और परिवार की रुढ़ियों से जर्जर हो गया है। बाँध-बूँध कर चल रहा है।

इन संस्थाओं के पीछे शब्द प्रामाण्य है। प्रामाण्यवाद ब्राह्मणवाद या किसी भी रूढ़ परम्परा का विशेष लक्षण है। वेद, पुराण, स्मृति, भाष्य आदि का प्रामाण्य ब्राह्मणवाद का परम्परागत आधार रहा है। ढाई हजार बरस हुए गौतम बुद्ध और महावीर ने वेदों के प्रामाण्य को, वैदिक कर्मकांड को, वैदिक हिंसा को चुनौती दी। भारतीय समाज में ब्राह्मण और श्रमण दो धाराएँ रही हैं। श्रमण बुद्ध और महावीर के पहले रहे हैं। ये घर-द्वार छोड़कर परिव्रज्या करते रहे हैं। भाषा और स्थान की पवित्रता को न मानने वाले हैं। लोक इनके मत को न मानते हुए भी इनका सदा आदर करता है। बुद्ध, महावीर, मीरा, कबीर और महात्मा गांधी इस श्रमण परम्परा के हैं। ब्राह्मण और श्रमण इन दो धाराओं के संघर्ष से भारतीय समाज में सृजन और परिवर्तन होता रहा है। बुद्ध के प्रहार से पुरानी ब्राह्मणवादी व्यवस्था बदली। अहिंसा, करुणा, जीव दया, लोक भाषा आदि की प्रतिष्ठा हुई। कालक्रम में बौद्ध विद्रोह भी एक व्यवस्था में जम गया। तब शंकराचार्य के नेतृत्व में ब्राह्मण व्यवस्था फिर लौटी। लेकिन तब तक तंत्र-मंत्र और सुलभ लाभ की प्रवृत्ति हिन्दू, बौद्ध सब में व्याप गयी थी। देश का अन्दरूनी रसायन सूख रहा था। इसाइयत और इसलाम की बाह्य चुनौती को यह न पचा सका। प्राचीन भारतीय सभ्यता का पराभव हुआ। बाह्य इसलाम धर्म और राज कायम हुआ। फिर इसाई और अंग्रेजी राज और सभ्यता का प्रभुत्व हुआ। आज भारत में अंग्रेजी राज नहीं है लेकिन पश्चिमी चाल की मशीनों, विश्वविद्यालयों, अदालतों, विचार-

धाराओं, भाषा-भूषा, भोजन, भवन, संगीत, कला वगैरह की शैलियों का जोर है। आधुनिकीकरण का मतलब पश्चिमीकरण है, इसमें अमेरिकीकरण और रूसीकरण दोनों शामिल हैं।

नयी पश्चिमी व्यवस्था पुरानी ब्राह्मण-मुल्ला व्यवस्था पर आरोपित हो गयी है। आजकल ब्राह्मणवाद संकर हो रहा है। मनु महाराज का प्रामाण्य छूटता है तो मार्क्स महाराज का प्रामाण्य धर दबोचता हैं और वह भी थोड़ा-थोड़ा ढीला पड़ता है तो मार्क्यूस महाराज चढ़ बैठते हैं। लेकिन यह सिर्फ एक की जगह दूसरे प्रामाण्य का बदलाव नहीं है। दोनों का संकर प्रामाण्य, ब्राह्मणवाद और पश्चिमीवाद का, मनुवाद और मार्क्सवाद का संकर बन रहा है। यह न तो पुराना है, न नया है, और बहुत कुछ दोनों के बाह्य का 'क्रास' है। यह न पुराने के काल-परीक्षित सत्व को नये रूप-रूपाकारों में बदलने देता है, न उन्हें छोड़ कर समस्त दिशाओं में आग लगा कर नये की तलाश करने का साहस और संकल्प ही करने देता है। यह आभास-आधुनिकता आभास-प्रमाणिकता तो और भी मारक है।

ब्राह्मणवाद-पश्चिमवाद का संकर चित्त खास लोगों की वस्तु है। आम लोग तो देश में और दुनिया की व्यवस्था में अन्त्यज और निर्वासित ही हैं। आम-खास का अन्तर सारी दुनिया में है। जाति प्रथा ने इसे अपने देश में इतना गहरा बना दिया है जितना गहरा यह दुनिया में कहीं नहीं है। रंग, रूप, संस्कार, धन, मन, बुद्धि, अहंकार सब में आम-खास का यह अन्तर पीढ़ियों से चला आ रहा है द्विज-अद्विज, स्त्री पुरुष का यह अन्तर इतने स्तरों पर है कि इनके बिना भारतीय या कोई भी समाज कैसा होगा इसकी कल्पना करना भी भारतीय मस्तिष्क के लिए कठिन है। इसलिए जब डाक्टर भगवानदास जैसे आधुनिक चिंतक वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन की बात करते हैं तो इसे जन्मना वर्ण से बदल कर कर्मणा वर्ण करने की ही बात सोच पाते हैं। कर्मणा वर्ण में एक व्यावहारिक सुविधा है कि कर्म के हिसाब से वर्ण और सामाजिक संस्तरण स्थिर हो जाएँगे। गुण-कर्म के अनुसार उनका आचार-विचार और सन्मान वगैरह स्थिर होगा। इससे अनावश्यक स्पर्धा रुकेगी। किन्तु भारत जैसे देश में जहाँ पाँच हजार बरस से जन्मना वर्ण चला आ रहा है वहाँ इस कर्मणा वर्ण के वर्गीकरण को जन्मना वर्ण में बदलते कितनी देर लगेगी? फिर, ऐतिहासिक कारणों से अधिकांश के दुहरे वर्ण होंगे, एक जन्मवाला वर्ण और दूसरा कर्म वाला। जो नये ब्राह्मण होंगे उन्हें पुराने ब्राह्मण मानेगें नहीं और वे स्वयं और उनके कुछ अनुयायी उन्हें ब्राह्मण मान कर झूठे दर्प का अरोप करेंगे। हर हालत में यह प्रक्रिया वर्ण व्यवस्था और इसलिए ब्राह्मणवाद को कायम रखेगी।

इसमें एक और खोट है। यहाँ यह मानकर चला जाता है कि समाज में सबका दर्जा समान तो हो नहीं सकता। विद्या बुद्धि, सामर्थ्य, रूप, गुण, कर्म का अन्तर तो रहेगा और इस अन्तर के कारण किसी न किसी प्रकार का वर्ण भेद रहेगा। चुनाव इतना ही है कि यह जन्म से ही स्थिर हो, या कर्म से बदलने वाला।

अब यह मानकर चलना है कि सब मनुष्य समान जनमते हैं। किन्तु वर्ण और योनि के अन्तर के कारण हर जगह अप्राकृतिकरूप से असमान बने हुए हैं। इस आरोपित अन्तर को ढहाना है। जन्म या कर्म से कोई ब्राह्मण या चाण्डाल नहीं होता। जन्म से ज्यादा कर्म का

महत्त्व है। किन्तु कर्म के अनुसार भी कोई संस्तरीकरण स्वीकार्य नहीं है। मनुष्य मात्र समान है, और कोई जन्मणा या कर्मणा वर्ण या लिंग उसे असमान नहीं बना सकता। इस आदर्श की उछाल में ही वर्ण और योनि के भेद मिट सकते हैं। सिर्फ जन्मणा के बजाय कर्मणा वर्ण से नहीं। लेकिन इस प्रस्थान बिन्दु को भी मानने से जैसे भारतीय मन इनकार करता है कि मनुष्य मात्र समान जनमते हैं और इसलिये एक जाति के हैं। जाति प्रथा के अध्ययन और नाश के लिए इस प्रस्थान बिन्दु को प्रतिष्ठित करने की जरूरत है।

धर्म और राजनीति का सारा मजा मारते हैं थोड़े से खास लोग, और उसकी मार सहते हैं करोड़ों आम लोग। गरीब के लिए ही धार्मिक रूढ़ि और राजनीतिक पीड़न है। जाति, जन्म, परिवार, कुल की मर्यादा यह सब खास लोगों के लिए नहीं है। यह तो मध्यम वर्ग और गरीबों के लिए है। "समरथ के नहिं दोष गुसाईं।" समरथ के लिए न धर्म में दोष है, न राजनीति में।

जहाँ इतनी गरीबी है, धधकती हुई भूख है, वहाँ धर्म और राजनीति और इनके सम्बन्धों, इनमें तबदीलियों के बारे में सोचने की भी शक्ति कहाँ है? एक-एक दिन जहाँ बीतना पहाड़ हो जाता है, आज की रोटी की चिन्ता ही जहाँ जलाती है, वहाँ धर्म और राजनीति में कल क्या होगा? यह सोचने का समय कहाँ है? शक्ति कहाँ है? धीरज कहाँ है? गरीबी से मन भी तो दरिद्र हो जाता है। सब क्रियाएँ हीन हो जाती हैं।

एक जर्मन कहावत है : गरीबी अमीर की गाय है। अमीर धर्म और राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में गरीबी की गाय को दुह रहे हैं। गरीब ही अमीर के हाथ-पाँव हैं। धन से ये गरीबों के शरीर और एक हद तक मन भी खरीद लेते हैं। रेडियो, ट्रांजिस्टर, अखबार, प्रचार से गरीब का मन मोह लेते हैं, पुलिस, पी०ए०सी०, पलटन से इनपर आतंक जमाते हैं। धन और सत्ता की मोहिनी से गरीब का वोट लेते हैं और खास लोगों की अमीरी का ठाठ आम जनता की गरीबी की ठठरी पर खड़ा करते हैं। आज अमीरी की सत्ता दिल्ली से लेकर गाँव तक स्थापित है।

सत्ता भ्रष्ट करती है, अनन्य सत्ता अनन्य रूप से भ्रष्ट करती है। प्रतिपक्ष सत्ता का प्रतिकार करता है। प्रशासन पर आंदोलन का अंकुश लगाता है। आज प्रतिपक्ष ध्वस्त हो गया है। एक व्यक्ति का, एक दरबार का शासन है। प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को राष्ट्रपति गिरि के चुनाव में जीत से जो शक्ति मिली, उस शक्ति को लगाकर उन्होंने १९७१ के लोकसभा के झटके के चुनाव में दिल्ली में और शक्ति कमायी। इस शक्ति के जरिए राज्यों में १९७२ में और शक्ति बटोरी। प्रेस, विश्वविद्यालय, स्वायत्त संस्थाओं, मंदिरों, मसजिदों जैसी संस्थाओं को भी शक्ति का यह शिकंजा जकड़ रहा है। लेकिन इस शक्ति का क्या हो? इंदिरा जी के पास इसकी न कोई कल्पना है, न योजना, न इससे लिए कोई संगठित पार्टी और कार्यक्रम ही है। इसलिए शक्ति का यह मद दिल्ली से गांव तक बिखर कर कुछ करा सकने में असमर्थ है। शक्ति का यह मद अगर किसी काम में न लगे तो यह शक्तिमती स्त्री या पुरुष के दिमाग में घुस जाता है। वह मान, मद, अहंकार, दर्प से चूर हो जाता है और यही उसके नाश का कारण

बनता है। यह क्रम शुरू हो गया है। इसे पूरा होने में तीन-चार साल का समय लगेगा। लेकिन शक्ति के दर्प का चूर होना अपरिहार्य है, इसमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं।

सत्ता जिन भ्रष्ट तरीकों को अपनाती है, उन्हें ही अपना कर प्रतिपक्ष कभी भी फल-फूल नहीं सकता। प्रतिपक्ष निर्वासित है और प्रताड़ित है। भारतीय संस्कृति 'प्रसाद' के शब्दों में एक निर्वासित के उत्साह की गाथा है। राम वनवासी हैं। निर्वासित हैं। रावण उनकी प्रिया भी हर ले जाता है। वे रावण के जैसी सोने की लंका और राक्षसों की पलटन खड़ी करके नहीं लड़ते। वनवासी राम बंदर, भालुओं से जुड़ते हैं। उनमें समरस हो कर उनसे ही शक्ति पाते हैं। रावण रथी है, रघुवीर विरथ हैं लेकिन जब युद्ध में सन्नद्ध हो जाते हैं तो उन्हें इन्द्र का रथ, धर्म का रथ भी मिल जाता है। रावण का वध होता है, राम का राजपाट लौटता है।

मैं राम की तरह न तो राजगद्दी पाने वाला था, न चौदह वर्ष वनवास में था, और न मेरे पास कोई लक्ष्मण जैसा भाई और सीता जैसी संगिनी थी। फिर भी वन में बरस-डेढ़ बरस भटका। वन में वनवासियों के संघर्षों और साँसों के साथ जिया। इससे वनवासियों को क्या मिला, मुझे नहीं मालूम। लेकिन मुझे आंतरिक शक्ति मिली। अपनी सभ्यता का संदेश इन जंगलों का संदेश है। वनों में, आश्रमों में कठिन तप कर ज्ञान अर्जित किया गया है। राम और लक्ष्मण को भी इन जंगलों से शक्ति मिली। इनके बाद गंगा-जमुना के इलाके का कोई बड़ा आदमी वन में नहीं भटका। मुझे भुइयां मिले जो अपने को पवन वंश का कहते हैं। इनकी सामाजिक व्यवस्था लक्ष्मण ने वनवास के समय स्थिर की थी। इनमें रहने मात्र से प्रत्यक्ष शक्ति मिलती है। यह धर्म का भी काम है और राजनीति का भी है। सारा जीवन इन वनों में बिताना अब शायद सम्भव नहीं। इसलिए अगर युवजनों की एक लहर पर लहर इन वनों में जाए तो आदिम और आधुनिक में आना-जाना हो सकेगा। अपरिचय के विन्ध्याचल में एक सुरंग बन सकेगी। वन के बीच पगडंडी बन जाएगी।

मुझे यहाँ एक शंका भी होती है। वनवास में जो राम सीता के विरह में व्याकुल थे, 'घन घमंड गर्जत नभ घोरा' से त्रस्त थे, रावण की लंका पर चढ़ गये थे, वही राम सत्ता पाने पर सीता को लोग अपवाद से कैसे छोड़ सके? सत्ता और सीता का यह द्वंद्व मुझ जैसों को परेशान करता है। राम को लोक मत का आदर करना था तो वह राज भी तो छोड़ सकते थे। लेकिन क्या सिंहासन इतना मोहक है कि उसके लिए प्रिया का स्नेह, संग-साथ सब छोड़ा जा सकता है? या राम की कर्त्तव्य भावना इतनी बलवान है कि उसके लिए प्रेय का कोई अर्थ नहीं है? श्रेय का मार्ग इतना क्रूर क्यों है?

वनवासी राम ने अयोध्या लौटने पर अपनी पलटन के सब बन्दर-भालुओं को वन में विदा कर दिया सिर्फ हनुमान डट गये। वे भी बेकार रहते थे। क्या राम से लगा कर आज तक वनवास और संघर्ष के दिनों के साथी सत्ता के दिनों के लिए निरर्थक और उत्पाती हो जाते हैं? क्या राम की तरह हर सिंहासनधारी के लिए एक वनवास का युग होता है और दूसरा भोग का युग होता है। वनवास में सीता होती हैं, भालू होते हैं। भोग में वशिष्ठ होते हैं, मंत्री, चारण, भाँट होते हैं, विदूषक होते हैं। यहाँ सीता नहीं, स्नेह नहीं, वानर-भालू नहीं, शिष्ट पार्षद होते हैं। दण्ड होता है। दण्डनीति होती है।

जो कुछ हो, प्रतिपक्ष की राजनीति में यह चित्रकूट में रमने का समय है। वनवासियों से, जंगलों, खेत मजदूरों, छोटे दुकानदारों, विद्यार्थियों और अन्य मामूली लोगों से शक्ति संचय का काल है। निर्वासित के उत्साह की परीक्षा का काल है।

आपत्ति में ही धीरज, धरम, मित्र और नारी-पुरुष की परख होती है। क्या प्रतिपक्ष आपत्ति काल में इस परख पर खरा उतरेगा ? आज मेरे लेखे तो प्रतिपक्ष की राजनीति ही धर्म है। इसलिए यह प्रश्न धर्म का भी है और राजनीति का भी। क्या धर्म प्रतिपक्ष की राजनीति और मनुष्य को आज भी धारणा करने की शक्ति दे सकता है ? कोई बताए।

(रामायण मेला की ओर से काशी विद्यापीठ में २६–२७ मार्च, १९७२ को आयोजित 'धर्म और राजनीति' पर परिसंवाद में प्रस्तुत वार्ता के आधार पर।)

•

धर्म और राजनीति

जगदीश गुप्त

कुछ विचार-सूत्र

'धर्मराज' और 'राज-धर्म' दोनों प्रत्यय अब पुराने पड़ गये हैं।

मध्यकाल में जो राजनीति 'धर्म' की ओट में या 'धर्म' के नाम पर अपना प्रभुत्व स्थापित करती थी उसे आधुनिक युग में विवश होकर धर्मनिरपेक्षता की शरण लेनी पड़ रही है। यह स्थिति भी स्वाभाविक नहीं है।

धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य धर्महीनता कदापि नहीं हो सकता क्योंकि 'धर्म' का जो व्यापक एवं उदात्त अर्थ रहा है उसकी उपेक्षा या त्याग नहीं किया जा सकता। धर्म के संकीर्ण अर्थ का जिसमें वह सम्प्रदाय का पर्याय बन जाता है, परित्याग अवश्य वरणीय है विशेषतः राजनीति के क्षेत्र में। पूर्वी पाकिस्तान कट्टर धार्मिक राज्य से देखते-देखते उदार धर्मनिरपेक्ष राज्य बँगला देश बन गया है। दोनों धारणाओं के बीच क्रान्ति की कितनी प्रज्वलित रेखा खींचनी पड़ी उसे।

'धर्म' की अपेक्षा 'संस्कृति' का एतद्देशीयता से अधिक गहरा सम्बन्ध होता है अतः राजनीति को धार्मिक होने में जितना संकोच होता है उतना सांस्कृतिक होने में नहीं। वस्तुतः धर्म के श्रेष्ठतम तत्त्व संस्कृति में समाहित होते हैं अतः राजनीति संस्कृति या संस्कृतियों तक अपने को सीमित रख सकती है। उसके लिए यही उचित भी है।

'संस्कृति' की जितनी गहरी और विश्वव्यापी धारणा उसको एक वचन में प्रयुक्त करने पर उभरती है उतनी बहुवचन में नहीं। मुझे 'भारतीय संस्कृति' या 'योरोपीय संस्कृति' शब्द निरर्थक तो नहीं लगते पर संकीर्णता की गन्ध उनसे अवश्य आती है। मनुष्यमात्र को एक और तदनुरूप मानव संस्कृति को भी एक ही मानना अधिक हितकर है। अन्तरिक्ष विजय के बाद आदमी को छोटा करना सम्भव नहीं है। वस्तुतः एक गन्तव्य है, भविष्य है और दूसरी वर्तमान स्थिति। वर्तमान से असन्तोष ही प्रगति की पहली शर्त है। राजनीति या राजनैतिक चिन्तन जिस 'स्टेटलेस सोसायटी' की ओर उन्मुख है वास्तविकता उसके ठीक विपरीत दिखायी देती है। चीन में बँगला देश का सही मूल्यांकन वह नहीं कर सका या जो वाद राजधर्म बन गया है इसीलिए उसका मूल्यबोध कुण्ठित हो गया है।

सत्य, अहिंसा आदि श्रेष्ठतम मानव-धर्म अपरिहार्य हैं। सत्यमेव जयते एक अर्थ में

धार्मिक होते हुए भी तत्वत: राजनैतिक नहीं है। उसके पीछे भारत की सुदृढ़ सांस्कृतिक आस्था तथा युग-युग का गहन अनुभव बोलता है।

'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' धर्म की जितनी ऊँची भूमिका पर प्रतिष्ठित है, वर्तमान राजनीति उसे छू भी नहीं पाती क्योंकि उसे स्वधर्म को पहचानने की न तो आकांक्षा है और न समय। 'स्वधर्म' का सच्चा मर्म वैयक्तिक स्वतन्त्रता के वातावरण में ही खुलता है। राजनीति जितनी दूर तक व्यक्ति स्वातन्त्र्यमूलक समाज की रचना कर सकती है उतनी ही दूर तक वह सार्थक है।



धर्म और राजनीति

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

शब्दों का एक अर्थ कोण में होता है और दूसरा कोण के बाहर हमारे मन में या हमारे चारों ओर सन्दर्भ में। यह दूसरा अर्थ ही प्रामाणिक और सच्चा अर्थ होता है। 'धर्म' और 'राजनीति' जैसे शब्दों का भी दूसरा अर्थ ही अधिक प्रामाणिक और सच्चा है। इस अर्थ में 'धर्म' और 'राजनीति' का कोई तालमेल मैं नहीं बैठा पाता। आज के मनुष्य और उसकी नियति को जो शक्तियाँ नियंत्रित और संचालित कर रही हैं उनमें राजनीति और विज्ञान प्रमुख हैं। धर्म अब उन शक्तियों में नहीं रह गया है। हाँ, वह कभी था और तब वह मनुष्य को अनुशासित भी करता रहा। किसी जमाने में विश्व के सभी देशों और जातियों में धर्म ही प्रमुख नियामक शक्ति के रूप में रहा। पर आज विज्ञान और कतिपय अन्य कारणों से धर्म के इस ह्रास के दो महत्त्वपूर्ण कारण मेरी समझ में आते हैं। एक तो यह कि सभी धर्मों ने किसी न किसी रूप में एक तीसरी दुनियाँ के साथ अपने सम्बन्ध जोड़ा और यह सम्बन्ध कालान्तर में इतना प्रमुख हो गया कि उसके रहस्यलोक में वास्तविक और प्रत्यक्ष संसार खो गया। धर्म के लोप का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा कि किसी भी धर्म ने तर्क बुद्धि को एक सीमा के आगे स्वीकार नहीं किया। इस कट्टरता का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि धर्म के विकासशील सृजनात्मक शक्ति समाप्त हो गई और वह एक अलौकिक तीसरी दुनियाँ की चीज होकर रह गया—जड़ और निस्पन्द। आधुनिक काल में जब विज्ञान धर्म की टक्कर हुई तो स्वाभाविक रूप से धर्म खण्ड-खण्ड हो गया। विज्ञान ने निरीक्षण-परीक्षण और तर्क को ही प्रमाण माना, किसी पूर्वाग्रह यह अन्ध श्रद्धा को नहीं और न शताब्दियों पूर्व लिखे गये धर्म-ग्रन्थों को ही, जैसा कि प्रत्येक धर्म करता है। प्रत्येक धर्म दावा करता है कि उसका धर्म-ग्रंथ ईश्वर की वाणी है पर उस पर तर्क बुद्धि से विचार किया जाय तो उसमें अनेक भ्रान्तियाँ और अपूर्णताएँ मिलेंगी। धर्मग्रंथों और धार्मिक सिद्धान्तों में एक प्रकार की संकीर्णता भी मिलती है जिसकी वजह से उसे सभी देशों और मनुष्य पर लागू नहीं किया जा सकता। धर्म की अलग-अलग परम्पराएँ मनुष्यों को खण्डित और अलग करती हैं। कभी-कभी दूसरे धर्मों और परम्पराओं के प्रति असहिष्णुता का भाव भी पैदा होता है। उदाहरण के लिये यह विश्वास है कि उनका ईश्वर ही सत्य है और वह दूसरे धर्म के ईश्वर या अन्य देवों से बड़ा है। विज्ञान में यह संकीर्णता नहीं थी। बल्कि एक सार्वदेशिकता थी और इसीलिए उसने धर्म को संघर्ष में पीछे ढकेल दिया। राजनीति भी विज्ञान की तरह किसी तीसरी दुनियाँ के स्थान पर मनुष्य को महत्त्व देती है और उसी के अनुसार संचालित होती है। धर्म वर्तमान कष्टों के लिये भविष्य में सुख प्राप्ति का आश्वासन देता है पर राजनीति ऐसा नहीं कर सकती।

राजनीति का कार्य है सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं का समाधान और एक स्थिर सामाजिक व्यवस्था की स्थापना। बेकारी, भुखमरी, शोषण आदि को अब शायद धार्मिक उपदेशों से न मिटाया जा सके। पर इसका अर्थ यह नहीं कि राजनीति को धर्म का विकल्प समझा जाय। आज की राजनीति, सामाजिक शोषण, छल और शिविरवद्धता की राजनीति है। अमरीकी बिधान निर्माताओं ने स्वतंत्रता और समानता को अपनी घोषणाओं में तो स्वीकार किया पर इन्हें वे कितना चरितार्थ कर सके? १९४५ में जापान पर जो यूरोनियम बम का प्रयोग किया गया वह आज भी काले-गोरे का संघर्ष नहीं है? आज की पूँजीवादी व्यवस्था मनुष्य और मनुष्य के बीच भेद खड़ा करती है—स्वतन्त्रता और समानता के मूलाधिकारों को खंडित करती है। उत्पादन के साधन जब चन्द लोगों के हाथों में सीमित हों तो शेष को अपना श्रम बेचने के लिये परतन्त्र रहना ही पड़ेगा। गुलामी, असमानता और उत्पीड़न की शुरुआत यहाँ से होती है। आज की राजनीति मानवीय सम्भावनाओं को नष्ट करने वाली है। वह मनुष्य को अशान्ति, निराशा, अविश्वास और संशय की मनःस्थिति में ले जाकर पटक देती है। आधुनिक सरकारें लोकमत बनाने के लिये प्रचारतंत्र का इस्तेमाल करती हैं और मनुष्य के स्वतन्त्र चिन्तन को कुंठित करती हैं। उसे एक दल की स्थिति में रख कर उसके जातीय चिन्तन से उसे अलग करती हैं। यह राजनीति का सबसे घातक प्रभाव है जो आज के आदमी को एक अपूर्ण आदमी बनाकर छोड़ देगा। वह अपनी सुख-सुविधाओं की दुनियाँ में इस कदर कैद हो जायेगा की फिर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जायेगा या वह उन प्रश्नों को निरर्थक मान लेगा। यह एक ऐसा बिंदु है जहाँ राजनीति और धर्म का सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक लगता है। धार्मिक कट्टरता, अन्धविश्वास, पौराणिकता, संकीर्णता आदि को त्याग कर धर्म अपना एक गहरा मानवीय अर्थ भी रखता है। कोई भी धर्म जो प्रत्यक्ष संसार और उसकी आकांक्षाओं से सहानुभूति नहीं रखता, तर्क-बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं करता तथा समय के अनुसार अपने को परिवर्तित कर विश्व-एकता बढ़ाने में सहायक नहीं होता तो वह सच्चा धर्म नहीं हो सकता। सच्चे धर्म की आस्था मनुष्य में जरूरी है। कहा जाता है कि जब भारत में सती प्रथा बन्द करने की चर्चा हुई तो तथाकथित धार्मिकों ने धर्म-ग्रंथों से उद्धरण देकर इसका विरोध करना शुरू किया। इन धार्मिकों ने मनुष्य की तुलना में ग्रन्थों को ही महत्त्व देना वास्तविक धर्म माना। आज भी जाति-प्रथा का समर्थन कुछ पीठाचार्य धर्मग्रन्थों के सहारे स्वीकार करना चाहते हैं। यह वास्तविक धर्म नहीं है। धर्म आचरण का दूसरा नाम है। इसकी आधारभूमि है स्वतन्त्रता और समानता, सामाजिक न्याय, प्रेम और विवेक। सभी धर्म किसी न किसी रूप में पीड़ितों के प्रति करुणा पर जोर देते हैं। एक सही और पूर्ण मनुष्य का निर्माण करना चाहते हैं। इस अर्थ में राजनीति का भी वही अर्थ है जो धर्म का। राजनीति का अर्थ केवल आर्थिक-सामाजिक ढाँचा सुदृढ़ करना नहीं है बल्कि, मानवीय एकता स्थापित करना भी है—मनुष्य की खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त करना है। शायद इसी अर्थ में गांधी जी ने भी अपनी राजनीति को अपने धर्म से पृथक नहीं माना था।

●

परिचर्चा

जगन्नाथ उपाध्याय—भारत में सब कुछ सनातन माना जाता है। धर्म प्रायः सभी जगह सनातन हैं। ऐसी जगहों में परिवर्तन के लिए स्थान बहुत कम है। नहीं है। बँधे धर्मों से कुछ निकलने को नहीं है। रामायण तो और भी अधिक बँधी है। यहाँ शूद्रों और पिछड़ों के लिए कोई स्थान नहीं है। तुलसीदास की सारी मर्यादा द्विज केन्द्रित है। ब्राह्मण उसका आधार है। ब्राह्मणवाद बहुत बुरा है। पुराने शास्त्रों की अपेक्षा लोकसंस्कृति में नवीनता की गुंजाइश अधिक है। संघर्ष शास्त्र बनाम लोकसंस्कृति का है। धार्मिक स्वार्थ राजनीति द्वारा पोषित रहे हैं। आज धर्म स्वार्थ को राजनीति से अलग करने की जरूरत है। ब्राह्मण व्यवस्था में शूद्र मंत्री नहीं हो सकता है। राम समस्या से जूझते नहीं। केवल लीला करते हैं। जो केवल लीला करता है वह लोक के दुख-सुख को नहीं समझ सकता है।

रामप्रवेश शास्त्री—धर्म लोक परलोक का माध्यम है। हमें सोचना है कि हम जिस राजनीति की चर्चा करते हैं वह धर्ममूलक हो या नहीं? तुलसीदास ने धर्म और राजनीति का समन्वय किया था।

संगमलाल पांडेय—धर्म और राजनीति दोनों का समन्वय होना चाहिए। दोनों का लोकोत्तर होना ठीक नहीं है। समन्वय का माध्यम राज्य नहीं हो सकता है। धर्मात्मा पार्टी और धर्मात्मा राजपुरुष का समन्वय नहीं हो सकता। राम, कृष्ण, शिव संबंधी लोहिया का समन्वय नये मानव की सृष्टि करता है। भारत में पालिटिक्स नहीं थी और पश्चिम में धर्म नहीं था। धर्म के समान ही राजनीति मर चुकी है। वर्णव्यवस्था में धर्म का अंश न होकर हथकंडा था। वर्णव्यवस्था के बिना भी हिन्दू-धर्म चल सकता है। धर्म और राजनीति दोनों में विराटता और गुह्य का प्रवेश हो गया। श्रमण परंपरा पलायनवादी है। इसने रहस्यवाद को जन्म दिया। ऐतिहासिक काल में कोई हिन्दू चक्रवर्ती नहीं हुआ। सभी बौद्ध और जैन। पुराने जमाने में शूद्रों के कई राज्य थे। वैदिक परंपरा इहलोकवादी भी है।

प्रमोद कुमार गुप्त—कुछ मूल्य दीर्घ कालिक होते हैं और कुछ अल्पकालिक। एक मनुष्य धर्म है। ऐसा धर्म ही राजनीति में बड़ा काम करता है। प्रतिपक्ष का धर्म है स्वतंत्रता, समता, सादगी आदि। सिंहासन में संत को भी बैठा दिया जाय तो वह बुरा हो जाता है।

हरिहरनाथ त्रिपाठी—भारत में धर्म से पुराना शब्द ऋत है। ऋत का विकसित रूप धर्म है। जहाँ अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों बनता है वही धर्म है। शाश्वत मूल्य ही धर्म है। गौतम ने व्यक्तिवाद का प्रचार किया। सत्ता से कभी न जुड़नेवाले को ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण कभी सत्ता में नहीं जाता। वह प्रतिपक्ष की राजनीति करता है। जहाँ

धर्म राजा से विकसित होता है वहाँ धर्म नहीं है। राजा लोक विद्विष्ट कार्य नहीं करता था। राम के पुत्रों की स्थापना राजदरबार से नहीं बल्कि ऋषि के आश्रम से होती है।

न धर्म मरा है न राजनीति। दोनों ही आज भी उपयोगी हैं। धर्म और राजनीति दोनों ही व्यक्ति सापेक्ष हैं। सरकार और राज्य में भेद है। सरकार की शक्ति का विकास समाज की शक्ति के लोप से होता है। बुद्ध और मुहम्मद संप्रदायवादी हैं। संप्रदाय धर्म नहीं है।

रमेशचन्द्र तिवारी—आजकल धर्म के दो अर्थ हैं—सम्प्रदाय जिसका अर्थ है कुछ आप्तवचन, विश्वास और कर्मकांड। सामान्यजन यही अर्थ लेता है। समता, करुणा आदि धर्म के दूसरे अर्थ हैं। धर्म का यह दूसरा अर्थ शाश्वत पक्ष से संबंधित होता है। किन्तु बिना सम्प्रदाय के धर्म जीवित नहीं रह सकता है। यह असंभव है। राजनीति सीधे सत्ता से जुड़ी होती है। कुर्सी के बाहर की राजनीति भी कुर्सी के आस-पास घूमती है। सम्प्रदाय के लोगों को राजनीति के लिए संगठित किया जाता है। आदर्श धर्म को व्यावहारिक राजनीति से जोड़ना चाहिए। धर्म निरपेक्षता प्राय: उन देशों की उपज है जहाँ एक ही धर्म रहा है। इसमें भारत नहीं आ सकता है। इसीलिये हमारे यहाँ द्वन्द्व है।

कृष्णनाथ—धर्म और राजनीति का क्षेत्र अलग-अलग है। कुछ मिला भी है। राज-धर्म राज्य के क्षेत्र में धर्म का विस्तार है। प्रचलित धर्म और प्रचलित राजनीति से दुनिया थक गई है। दोनों में अगति है। नये रास्तों की जरूरत है। सामान्यजन को कुछ प्रतीक चाहिए। इसीलिये नये धर्म की कल्पना करनी चाहिए। धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म विमुखता हो गयी है। जब लौकिकता ही सब कुछ हो जाय तो ठीक नहीं। आज का सत्ताधारी धर्म की रूढ़ियों में जाते हैं किन्तु धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म हीनता फैलाते हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी पाकिस्तान पर भारत की विजय को वेंकटेश्वर की कृपा मानती हैं। यह धर्म-निरपेक्षता नहीं है। ब्राह्मणवाद पर भी विचार होना चाहिए। विचारों, संस्थाओं और कर्मकांडों की परम्परा ही ब्राह्मणवाद है। दो धाराएँ हैं—ब्राह्मणवाद की और श्रमण की। श्रमणधारा बुद्ध से गांधी तक है। श्रमणधारा व्यवस्था विरोधी है। ये व्यवस्था पर हमला करते हैं। धर्म और राजनीति का समन्वय होना चाहिए।

हमारे सामने पश्चिम की चुनौती है। पश्चिमवाद और ब्राह्मणवाद का मेल हो रहा है। गांधी और लोहिया पश्चिम के विरोध में खड़े हुए थे। देश में प्रामाण्यवाद बढ़ रहा है। पश्चिम का भी प्रामाण्य हो गया है। गांधी लोहिया का प्रामाण्य भी ठीक नहीं है। साधारण आदमी परेशान है। उसे नयी-पुरानी किसी व्यवस्था का लाभ नहीं मिल रहा है। तुलसी को लोक जीवन में ले जाने की जरूरत है। सत्ता से टकराने वाला व्यक्ति ही इस काम को कर सकता है। कुर्सी से टकराने के लिये धर्म और राजनीति दोनों की जरूरत है।

रमाशंकर त्रिपाठी—श्रमण लोक को महत्ता देते थे। शास्त्र को नहीं। ये व्यवस्था-वादी नहीं थे। ये स्वार्थ वाली व्यवस्था का विरोध करते थे। राम वेद और ब्राह्मणवादी है। अच्छी बातों को परम्परा से हटकर आना चाहिए। पैदा होते ही मनुष्य पर कोई धर्म

नहीं लादा जाना चाहिए। उसे बालिग होने पर धर्म स्वीकृति की छूट मिलनी चाहिए। राम के जीवन और रामायण से लोक जीवन की आशा नहीं करनी चाहिए।

लक्ष्मीनारायण मिश्र—इस देश में धर्म और राजनीति कभी अलग नहीं रही। राम धर्म के विग्रहवान् रूप हैं। बाल्मीकि, तुलसी आदि ने धर्म और राजनीति का समन्वय किया था। धर्म वह है जिससे प्रजा का धारण हो। सभी कर्मों में धर्म रहे तभी काम चल सकता है। धर्म लोप से राजनीति बिगड़ गई। व्यक्तिवाद आ गया गया। राम ने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। समाजवाद का अर्थ है अपने लिये न जीकर दूसरों के लिये जीना। व्यक्तिवाद पश्चिम की चीज है।

राजनारायण—गांधी ने कहा था राजनीति मैं धर्म समझकर करता हूँ। यही दृष्टि लोहिया की थी। जिस प्रसंग में धर्म निरपेक्षता की बात की जाती है वह ठीक नहीं है। धर्म निरपेक्षता के स्थान पर संप्रदाय निरपेक्षता शब्द का प्रयोग होना चाहिए। धर्म सब अभ्युदय करता है। आज धर्म की परिभाषा चौराहे पर खड़ी है। जो धर्म नहीं है उसी को धर्म मानकर लोग झगड़ रहे हैं। धर्म और राजनीति एक दूसरे के पूरक हैं। लोहिया ने राम के चरित्र से समता ग्रहण की। समता राम का धर्म था। समता आज का धर्म है। रामायण मेला द्वारा समता की धारा प्रवाहित होनी चाहिए। सभी धर्मों का आधार समता है। हमारा नारा है समाजवाद। किंतु हमारे कर्म से धन चंद लोगों के हाथ में इकट्ठा हो रहा है। राजनीति डन्डे की भांति खड़ी है। धर्म के द्वारा अवसरवादिता, भ्रष्टाचार आदि में शुद्धता आएगी। राजनीति और धर्म दोनों की एक कसौटी होनी चाहिए। वह है करनी और कथनी की एकता। शराब पीना धार्मिक दृष्टि से बुरा है इसलिये समाजवादियों को शराब पीने का विरोध करना चाहिए। अगर राजनीति और धर्म को एक करने से झगड़ा बढ़ता है तो उसे भी एक करना चाहिए।

ठाकुर प्रसाद सिंह—मैं उस वर्ग का आदमी हूँ जो कभी धर्म के नेताओं और कभी राजनीतिक नेताओं से प्रताड़ित रहा हूँ। हमारा धर्म सबसे अधिक राजनीति संमत हुआ जब वह भक्ति से जुड़ा। पहले राजनीति राजा के आस-पास विकसित होती थी। भक्ति आन्दोलन में वह जनता के पास गई। तुलसीदास ने हिन्दू धर्म को राजनीतिक रूप दिया। उन्होंने अपनी रचना स्वांत: तम: शांति के लिये की थी। तम: शांति का अर्थ अंधरे की शांति। कौन सा अँधेरा? शासन का अँधेरा। भक्ति सम्प्रदाय भीतर से राजनीतिक था। पिछले दो हजार वर्षों में हमारा देश धर्म के पीछे राजनीति करता रहा है। तुलसी का रामराज्य मुस्लिमकाल में स्वतंत्रता का घोषणा पत्र है। धर्म एक व्यवस्थित और सुन्दर राजनीति है। रामायण प्रतिपक्ष की गीता है। वह वर्तमान राजनीति से बचकर चलती है। तुलसी ने मनोराज्य की कल्पना की। प्रतिपक्ष में रहने की राजनीति का काम किया। आज की राजनीति का प्रेरणा स्रोत पुराने ग्रन्थ हैं। भ्रम में सत्य छिप जाता है। तुलसी ने बिना सैन्यशक्ति के बड़ाई की बात की। पुराने शास्त्रों को पुन: जिया जाता है। यहीं धर्म और राजनीति का रिश्ता जुड़ता है।

जितेन्द्र सिंह—वनवासी राम की राजनीति और राजा भरत का धर्म दोनों में सम-

न्वय किया जाय तो शायद कुछ मिले। क्योंकि वनवासी राम का धर्म लोक से जुड़ा है। राजा भरत को राज्य सत्ता आतंकित नहीं करती है। उल्टे सत्ता ही भरत से आतंकित है। सत्ता और सीता का द्वन्द्व है। क्षणिक सत्ता से नहीं जुड़ना चाहिए।

वेद प्रताप वैदिक—राजनीति ही धर्म है तो आशा-निराशा की बात असंगत है। निष्काम भाव की राजनीति धर्म है। राजनीति को सेवा का साधन मानना चाहिए। सत्ता-धारी और प्रतिपक्ष दोनों ही सत्ता केन्द्रित हो रहे हैं। यही आज के युग का मुख्य संकट है।

गुरुकृपाल सिन्हा—धर्म का मतलब है अच्छाई। राजनीति में चेतना तभी आ सकती है जब हम राजनीति को धर्म मान लें।

गौरीशंकर दूबे—पुरानी मान्यताओं के आधार पर नया समाज नहीं बनेगा। नया समाज के लिए नयी मान्यताएँ ही ठीक हैं।

नीरजा उवेराय—सीता का निर्वासन प्रजा का चरित्र ऊँचा उठाने के लिये हुआ था। राज्य सत्ता के लिये सीता का त्याग नहीं किया था। सीता राम के प्रेम तत्व को जानती है। राजा का धर्म समष्टि है। सीता को त्यागकर राम व्यष्टि धर्म और निजी सुख का त्याग करते हैं। राम का रथ धर्म रथ है। धर्म रथी ही राजनीतिक समर में विजयी होता है।

इन्द्रनारायण तिवारी—तुलसी का संदेश व्यक्ति जीवन को भरोसा देनेवाला है। राम आदर्श हैं। विश्व राजनीति में लूट, देश में खसोट, वाराणसी में जो विडंबना है उसे तोड़ना होगा। कुछ करना होगा। हम भारी निराशा में चल रहे हैं। हमें राम की लड़ाई जीवन में लड़नी है।

विजयदेवनारायण साही—रामचन्द्र शुक्ल ने राम को बाहरी शक्ति से लड़नेवाले की भूमिका दी। तुलसी और भक्तों के बारे में अटकलें हैं जो शोध पर आधारित नहीं है। भक्तों के गीत सुनने अकबर और उनके दरबारी आते थे यह नेहरू और बिनोवा जैसा संबंध है। यह डांगे जैसा प्रतिपक्ष है। कबीर ब्राह्मण को पिता जैसा मानते हैं। समझौते की मन-स्थिति में ही भक्ति साहित्य को देखना चाहिए। तुलसीदास ने खानखाना के बरवै में लिखा था। ब्राह्मणों द्वारा तुलसीदास का विरोध आंतरिक झगड़ा था। भारत के क्रान्तिकारी सम-झौतावादी बन जाते हैं।

अंतिम संघर्ष की प्रेरणा धर्म से नहीं मिलती है। निराशा के समय धर्म में रास्ता खोजने की प्रवृत्ति नई नहीं है। लोहिया ने अस्तित्ववादी शब्दों का प्रयोग किया है। वास्त-कता के प्रतिपक्ष की आस्था अधिक है। लोहिया राजनीति के लिए धर्म का उपयोग नहीं करना चाहते थे।

●

रामकथा

श्री जगजीवनराम

अखिल भारतीय रामायण मेला समिति, वाराणसी की ओर से आयोजित द्विदिवसीय परिचर्चा का उद्घाटन २६ मार्च को सायंकाल ६–३० बजे काशी विद्यापीठ में रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम ने किया। परिचर्या का उद्घाटन करते हुए रक्षा मंत्री ने कहा कि रैदास, कबीर और तुलसी के राम में भेद है। रामकथा सौर रामायण कथा के भेद को अलग-अलग समझना होगा। जनकपुर, बक्सर, अवध ये तीन धुरियाँ हैं जहाँ राम के चरित्र का विकास होता है। अवध के राम ब्राह्मण वशिष्ठ के द्वारा दीक्षित हैं। बक्सर में जाकर विश्वामित्र के सम्फर्क में आने पर राम क्राँतिकारी बनते हैं। विश्वामित्र ने राम को क्रांति की दीक्षा दी। विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्हीं। विश्वामित्र की दीक्षा का फल था कि राम ने अज्ञातकुलशीला सीता से विवाह किया और पाषाणी अहिल्या का उद्धार किया। यह काम अवध की शिक्षाओं द्वारा नहीं हो सकता था। विश्वामित्र ने ब्राह्मण के एकाधिकार को तोड़ा था। जनक में उदारता थी। इसीलिये उन्होंने माता-पिता-हीना सीता को पुत्रीवत् पाला। अयोध्या में सीता को जब-जब राजमहिषी बनने का वक्त आया उपद्रव हुए।

तुलसीदास वहीं पर बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। विशेषकर वह जब श्रीराम को पुरुषोत्तम मानते हैं। किन्तु राम को भगवान, इष्टदेव मानते ही वे चमत्कार पैदा करने में लग जाते हैं। तुलसी के राम में अद्भुत राजनीतिक क्षमता भी है। राम ने गुह से मित्रता करके और विभीषण को गद्दी देकर गहरी राजनीतिज्ञता का परिचय दिया। गुह दशरथ का पुराना दुश्मन था। हिन्दू धर्म पर प्रकाश डालते हुए श्री जगजीवनराम ने कहा कि इस धर्म में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें हैं। आज के संदर्भ में उनकी नई व्याख्या होनी चाहिये। नई व्याख्या के अभाव में आज का नवयुवक उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता। रामायण का अध्ययन मानवतावादी दृष्टि से करने की जरूरत है। कुछ परंपराओं को तुरत तोड़ना चाहिए। रामायण और हिन्दू धर्म में शाश्वत आधुनिकता की क्षमता है। रामायण की व्याख्याएँ प्राय: परंपरागत हैं। राम क्रांतिकारी पुरुष थे। तुलसीदास एक-दो शब्दों में महत्त्वपूर्ण संकेत देते हैं। उदाहरण के लिये 'सो संपदा विभीषण कहँ अति संकुचित सहित हरि दीन्हीं' में गहरा अर्थ है। ऐसे स्थलों की व्याख्या होनी चाहिए। नवीन व्याख्याएँ तुलसी के साथ अन्याय नहीं हैं। क्योंकि तुलसीदास भी देश-काल के अनुकूल हैं।

अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए प्रो० राजाराम शास्त्री, एम. पी. ने कहा कि बाबू जगजीवनराम के विचारों से हमारे विचारों को काफी उत्तेजना मिली है। प्रो० शास्त्री की दृष्टि में इतिहास के सभी बातों के व्याख्या नहीं हो सकती। व्याख्या केवल चरित्रों की हो

रामायणमेला का उद्देश्य और कार्यक्रम

रामायणमेला का उद्देश्य भारत की आत्मा को जगाना, उसमें असाम्प्रदायिक और समता का आनंद-रस संचार करना है। एक ऐसी दुनिया के लिए प्रयत्न करना है जिसमें स्वतंत्रता, समता और भाईचारे के निर्गुण नारों को ठोस और सगुन रूप दिया जा सके। पश्चिमी देशों का लोभ लाभ को पाकर और बढ़ रहा है। वहीं उनके युवा शांति की खोज में विद्रोही हो रहे हैं। अपनी अतृप्ति की शांति के लिए भारत की गलियों में घूम रहे हैं। संन्यासी, वैरागी, योगी और हिप्पी हो रहे हैं। ऐसे समय में भारत की गंभीर जिम्मेवारी है। किंतु भारत स्वयम् पश्चिम का पिछलग्गू हो गया है। पश्चिमी युवा अधिक सुख से और भारतीय युवा बेकारी, गरीबी, भूख और गलत शिक्षा से तंग है। उदर निमित्त पश्चिमी वेश धारण कर रहा है। बाहरी चमक-दमक शरीर के धर्म हैं। शरीर के पीछे रहने वाली शक्ति तड़क-भड़क की भीड़ में दब गई है। आत्म पक्ष छूट गया है। लोग अपने को पहचानना भूल गए हैं। रामायणमेला अपने को पहचानने की एक बौद्धिक और मानवी कोशिश है।

कार्यक्रम :

१. रामायण और दूसरे सन्तों की मूल्यों-मान्यताओं पर आज की दृष्टि से विचार गोष्ठी
२. रामकथा और दूसरी मूल्य निर्माण वाली कथाओं, वाक्यों, सूक्तियों आदि के आधार पर गायन, नृत्य, वाद्य, चित्रप्रदर्शनी, नाटक आदि
३. रामायण का पाठ
४. सभी धर्मों पर बातचीत, उनकी सूक्तियों का पाठ, विचार विनिमय आदि
५. सहभोज